

तैत्तिरीय उपनिषद्

सरल सुबोध भाषा भाष्य

गुरुदत्त

143
-T
12

तैत्तिरीयोपनिषद्

आर्ष साहित्य
Complete Vedic Books Store
Yog, Vedic, Ayurvedic, Religious
All Yog & Organic Products
(M) 9541317278, 8869821468
Web: aarshsahitya.com

शाश्वत संस्कृति परिषद्

विशुद्ध भारतीय तत्त्व-दर्शन पर सम्यक् गवेषणा करने तथा उसका प्रचार करने एवं उसके आधार पर राष्ट्र के सम्मुख उपस्थित सभी समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने के उद्देश्य को लेकर इस परिषद् की स्थापना की गई है।

आर्य समाज
Complete Vedic Books Store
All Vedic, Ayurvedic, Religious
and Organic Products
(91) 9541317373, 8869371468
http://www.aryasamaj.org

तैत्तिरीय उपनिषद्



गुरुकुल



हिन्दी साहित्य सदन
www.hindisahityasadan.com

R
001.4143
GUR-T

© ईशान दत्त

मूल्य : 100/-

प्रकाशक

हिन्दी साहित्य भवन

2 वीं डी. चैम्बर्स , 10/54 देश बन्धु गुप्ता रोड,
करोल बाग पुलिस स्टेशन के पास, नई दिल्ली-110005

E-mail:

indiabooks@rediffmail.com

hindisahityasadan@gmail.com

Website:

www.hindisahityasadan.com

टैलिफ़ैक्स

011-23553624, 011-23551344, 09213527666

संस्करण

2016

मुद्रक

संजीव आफ़सैट प्रिंटर्स

प्राक्कथन

तैत्तिरीय उपनिषद् में तीन वल्लियाँ हैं। प्रथम वल्ली 'शिक्षा' शिक्षा से सम्बन्धित है और निःसन्देह अद्वितीय है। इस वल्ली में अक्षर ज्ञान से आरम्भ कर शिक्षा के अन्तिम लक्ष्य गृहस्थ पालन तक की शिक्षा का उल्लेख है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इसमें अध्यात्म शिक्षा का भी, गृहस्थ की दीक्षा देने से पूर्व कथन किया गया है।

उच्च शिक्षा को पाँच संगतियों में विभक्त किया गया है। संगतियों का अभिप्राय है विषयों का संयोग (Combinations)। यह यत्न किया गया है कि इन पाँच संगतियों में पूर्ण ज्ञान को बाँध दिया जाये।

जहाँ तक शिक्षा का सम्बन्ध है, हम समझते हैं, सब कुछ जो इसके अन्तर्गत आना चाहिये, आ गया है। परन्तु इसमें प्रशिक्षण (Technology) नहीं है। उपनिषद् प्रशिक्षण को शिक्षा के अतिरिक्त समझता है। प्रशिक्षण ज्ञान नहीं है, प्रत्युत शरीर तथा मन को सिघाना है।

मन कल्पनाएँ करने का यन्त्र है। इस कारण प्रशिक्षण में मन का प्रशिक्षण भी समझा जाता है। ठीक कल्पना करना यथात् अन्वेषण के लिए योजना बनाना मन का गुण है। अतः मन को सिघाना भी प्रशिक्षण है।

इस विषय में हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि इस उपनिषद् की प्रथम वल्ली वर्तमान शिक्षा की योजना बनाने वालों के अध्ययन का विषय है।

जो बात हम विशेष रूप में यहाँ कहना चाहते हैं, वह यह है कि अध्यात्म-विषय भी शिक्षा का ही विषय होना चाहिये। भारतीय शिक्षा विशेषज्ञ अध्यात्म को विद्या की पराकाष्ठा मानते थे। वर्तमान शिक्षा विशेषज्ञों के लिए यह अनुकरणीय है।

तैत्तिरीय उपनिषद् की द्वितीय तथा तृतीय वल्ली के विषय में हम समझते हैं कि ये वल्लियाँ त्रुटिपूर्ण हैं, यद्यपि दोषपूर्ण नहीं हैं। त्रुटि से हमारा अभिप्राय है कि इनके कथन में कुछ कमियाँ रह गई हैं। यह कमियाँ प्रायः सभी उपनिषदों में प्रतीत होती हैं। हमारे मत में इसका कारण यह है कि सामान्य योग्यता के मनुष्यों को गूढ़ ज्ञान की बात बताते-बताते पूर्ण अथवा उत्कृष्ट ज्ञान की बात नहीं कही जा सकी। बात को सरल करते-करते सीमा से अधिक सरल बना दिया गया है और

ऐसा करते हुए बहुत-कुछ छोड़ना पड़ गया है। कदाचित् तत्कालीन भाषा में शब्दों की कमी होने के कारण ऐसा हुआ है अथवा यह भी सम्भव है कि उपनिषद् सुनने वालों के आधारभूत (basic) ज्ञान की कमी के कारण ऐसा हो गया है।

इसीका परिणाम यह हुआ है कि उपनिषदों के व्याख्याताओं तथा भाष्यकारों ने उन त्रुटियों को उपनिषद् का गुण समझ इन्हें ज्ञान-विज्ञान मान लिया है। यही हमारे विचार में अद्वैतवाद तथा नास्तिक्य के विख्यात होने का कारण है।

अतः हमारा उद्देश्य यह होना चाहिये कि सभी उपनिषदों का अध्ययन करते हुए इनमें समन्वय किया जाये तथा प्रत्येक उपनिषद् के कथन की वेदज्ञान से तुलना की जाये।

वेद शाश्वत एवं ईश्वरीय ज्ञान है तथा किसी भी शास्त्र एवं उपनिषद् की मान्यता उसके वेदानुकूल होने पर ही समझी जा सकती है।

इस पर भी हम उपनिषदों को और विशेष रूप में इस 'तैत्तिरीय' उपनिषद् को अद्वितीय (superb) ही मानते हैं।

निवास १८, मार्ग २८,
पंजाबी बाग, नई दिल्ली-२६

—गुरुदत्त

शाश्वत संस्कृति परिषद्

शाश्वत का अर्थ है सदा रहने वाला, नित्य । जो नित्य है, वह सबके लिए है । किसी जाति अथवा किसी देश-विशेष से इसका एकाकी सम्बन्ध नहीं हो सकता ।

हम यह मानते हैं कि ज्ञान का मूल स्रोत परमात्मा है और परमात्मा का ज्ञान वेद ज्ञान है । यह ज्ञान प्राणीमात्र के लिए है ।

जैसे एक वृक्ष, जिसका सम्बन्ध मूल से कट गया हो, कुछ काल तक तो हरा-भरा रह सकता है, परन्तु वह शीघ्र ही सूखने और सड़ने लग जाता है, इसी प्रकार मानव-समाज भी, परमात्मा के मूल ज्ञान से विच्छिन्न हो सूख तथा सड़ रहा है । मानव-समाज मानवता-विहीन हो रहा है ।

इस मानव-समाज को पुनः ज्ञान के उस मूल स्रोत वेद से जोड़ने का एक प्रयास ही यह शाश्वत संस्कृति परिषद् है ।

वेद-ज्ञान पर अगाध श्रद्धा रखते हुए, उस ज्ञान को प्राप्त करने तथा सब जनों को कराने का यह एक प्रयास विज्ञ लेखक ने किया है । विषय का इतना सरल प्रस्तुतीकरण कदाचित् ही सम्भव हो । इसके लिए हम श्री गुरुदत्तजी के अत्यन्त आभारी हैं ।

शाश्वत संस्कृति परिषद्,
नई दिल्ली ।

अशोक कौशिक
मन्त्री

क्रम

शिक्षा वल्ली	६
ब्रह्मानन्द वल्ली	३६
भृगु वल्ली	६४
उपसंहार	८३

शीक्षा वल्ली

प्रथम अनुवाक

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः । शं नो भवत्वयमा । शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । शं नो विष्णुरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । ऋतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मा मवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु माम् । अवतु वक्तारम् । ओ शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः ॥

अर्थ—मित्र, वरुण तथा अयमा हमारे लिए कल्याण करने वाले हैं । इन्द्र और बृहस्पति हमारा कल्याण करें । महापराक्रमी विष्णु हमारा कल्याण करें । परमात्मा को हमारा नमस्कार । वायु को नमस्कार । तुम ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हो । तुमको ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा । ऋतों को कहूँगा (पालन करूँगा) । सत्य को कहूँगा (आचरण करूँगा) । वह परमात्मा हमारी रक्षा करे । कहने वाला शिक्षा देने वाले की रक्षा करे ।

विवेचना—इन मन्त्रों में कुछ शब्दों के अर्थ समझने की आवश्यकता है । मित्र, वरुण तथा अयमा परमाणुओं के तीन प्रकार के संगठन हैं । तीनों का संयुक्त नाम आपः है । पृथक्-पृथक् इनके नाम कहे गये हैं । इनमें मित्र को सांख्य दर्शन में तेजस् अहंकार कहा गया है । वरुण को वैकारिक तथा अयमा को तमस् और भूतदि कहा गया है ।

जब परमाणु पर अग्नि अर्थात् अरुः आरुढ़ हो जाता है तब परमाणु में छिपा हुआ इन्द्र प्रत्यक्ष में आ जाता है । इन्द्र त्रिगुणात्मक है । परमाणु के भीतर तो तीनों गुण संतुलित अवस्था में होते हैं तथा परमाणु की अवस्था सीम्य होती है । परन्तु जब इन्द्र बहिर्मुख होता है तब तीनों गुण पृथक्-पृथक् कार्य करने लगते हैं । तब वे परमाणुओं पर आकर्षण-विकर्षण करने लगते हैं । इससे परमाणुओं में गति उत्पन्न हो जाती है । इस गति को वायु कहा जाता है । वायु का अर्थ गति ही है ।

मित्र, वरुण और अर्यमा का वर्णन ऋग्वेद १-१३६ में भी किया गया है। वहाँ बताया गया है कि ये तीनों प्रकृति की सन्तान हैं और सृष्टि-रचना करने में सक्षम हैं। आपः का वर्णन भी ऋग्वेद १-१६३-१, २, ३, ४ में किया गया है। वहाँ इनको प्रकृति के परमाणुओं का निबन्धन माना है। इनसे सृष्टि के सब पदार्थों की रचना होती है।

वर्तमान विज्ञान में सृष्टि के सब पदार्थ १०४ प्रकार के ऐटमों (atoms) से बने माने जाते हैं। उसके अनुसार ये १०४ प्रकार के ऐटम तीन प्रकार के कणों से निर्मित हैं। यदि विज्ञान के इस निष्कर्ष का वेदमन्त्रों के साथ अनुशीलन किया जाय तो यह निष्कर्ष निकलता है कि इलेक्ट्रॉन (तेजस् अहंकार) तथा मित्र पर्याय-वाचक शब्द हैं। प्रोटोन (वैकारिक अहंकार) तथा वरुण पर्यायवाचक शब्द हैं। इसी प्रकार न्यूट्रोन (तमस् अथवा भूतादि अहंकार) और अर्यमा पर्यायवाचक शब्द हैं।

हम ऊपर लिख चुके हैं कि वायु परमाणुओं की गति को कहते हैं। यह गति परमाणुओं पर परमात्मा की शक्ति अग्नि अर्थात् अर्बः के आरुढ़ होने से उत्पन्न होती है। यह किसी अन्य कारण से उत्पन्न नहीं होती। इस कारण इसको परमात्मा का लिङ्ग भी माना है। इसी कारण मन्त्र में कहा है कि वायु परमात्मा का प्रत्यक्ष रूप है। अभिप्राय यह है कि जगत् के पदार्थों में गति से ही परमात्मा का साक्षात्कार होता है।

यह सब वर्णन प्राकृतिक घटनाओं का है। ये घटनायें प्राकृतिक नियमों (ऋतों) के अनुसार होती हैं। यही कारण है कि इन प्राकृतिक घटनाओं को भी परमात्मा के साथ-साथ नमस्कार किया गया है। ऋषि परमात्मा से प्रार्थना करता है कि ये सब उसकी (शिक्षा देने वाली की) रक्षा करें।

द्वितीय अनुवाक

श्रीक्षां व्याख्यास्यामः । वर्णः स्वरः । मात्रा बलम् । साम संतानः ।
इत्युक्तः श्रीक्षाध्यायः ॥१-२-१॥

अर्थ—अब शिक्षा का व्याख्यान करते हैं। आरम्भ में वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान हैं। यह शिक्षा का प्रथम अध्याय है।

विवेचना—मनुष्य शरीर में स्थित ध्वनि यन्त्र इस प्रकार का बना हुआ है कि यह अनेक प्रकार की ध्वनियाँ निकाल सकता है। ये ध्वनियाँ परस्पर इतनी समीप-समीप होती हैं कि सामान्य मनुष्य इनको पृथक्-पृथक् करने में समर्थ नहीं है।

विद्वानों ने इन ध्वनियों का विश्लेषण करके विभिन्न ध्वनियों को पृथक्-पृथक् करने का यत्न किया है। इस यत्न में वे कहते हैं कि सामान्यतया मनुष्य का ध्वनि यन्त्र लगभग चौवन प्रकार की ध्वनियाँ निकाल सकता है। यहाँ पर हमने “लगभग” इस कारण लिखा है क्योंकि कुछ मनुष्य इससे अधिक प्रकार की ध्वनियाँ भी निकालने में समर्थ होते हैं। किन्तु कुछ ऐसे भी होते हैं जो कि चौवन प्रकार की ध्वनियाँ निकालने में भी समर्थ नहीं होते। अधिकांश मनुष्य वावन प्रकार की ध्वनियाँ सरलता से निकाल लेते हैं। उन ध्वनियों के संकेत निर्धारित किये गये हैं। वे संकेत इस प्रकार हैं—

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ लृ ए ऐ ओ औ अं अः ।

क ख ग घ ङ ।

च छ ज झ ञ ।

ट ठ ड ढ ण ।

त थ द ध न ।

प फ ब भ म ।

य र ल व ।

श ष स ह ।

क्ष त्र ज्ञ ।

ये हैं वावन प्रकार की ध्वनियों के संकेत। इनको वर्ण कहा जाता है। वर्ण दो प्रकार के हैं—स्वर और व्यंजन। ऊपर जो ‘अ’ से आरम्भ कर ‘अः’ तक लिखे गये हैं उनको स्वर कहते हैं और ‘क’ से आरम्भ कर ‘ज्ञ’ तक जो लिखे गये हैं उनको व्यंजन कहते हैं। व्यंजन विना स्वरों की सहायता के उच्चारण नहीं किये जा सकते। यही कारण है कि यदि मात्र व्यंजन लिखना हो तो उस अक्षर विशेष के नीचे एक टेढ़ी रेखा डाली जाती है, जिसे हलन्त का संकेत कहते हैं। यथा क्, च्, ट् इत्यादि इत्यादि। अ से आरम्भ कर अः तक के वर्ण स्वर कहलाते हैं। क्योंकि ये स्वरित हो सकते हैं। व्यंजन स्वतः स्वरित नहीं हो सकते, इनको ध्वनित करने के लिए उनके साथ स्वर संयुक्त किये जाते हैं।

व्यंजनों के साथ स्वरों को संयुक्त करने के लिए प्रत्येक स्वर का कोई-न-कोई संक्षिप्त संकेत बनाना पड़ता है। और फिर उसको व्यंजन के साथ संयुक्त किया जाता है।

इन स्वरों के संकेत इस प्रकार हैं। ये स्वर भी दो प्रकार के हैं। एक ह्रस्व और दूसरे दीर्घ। उदाहरण के रूप में ‘अ’ ह्रस्व है और ‘आ’ दीर्घ। इसी प्रकार उ, ऋ, लृ, इ, ए, औ और अं ह्रस्व स्वर हैं और आ, ई, ऊ, ॠ, लृ, ऐ, औ और अः दीर्घ स्वर हैं। व्यंजनों को इनके साथ संयुक्त करने के संकेत चिह्न इस प्रकार हैं—

व्यंजन के नीचे लगे हलन्त चिह्न को हटा देना ही 'घ' का संकेत माना जाता है। यथा—क + घ = क ।

आ का संकेत है $=I$

$$u = f$$
$$=$$

11.

$$= 5$$

ऋ का संकेत स्वर व्यंजन के नीचे चिह्न है। यथा क् + ऋ = कृ।

ल और ल को पूर्ण ही लिखा जाता है।

ए का संकेत स्वर है तथा क्+ए=के

ऐ " " " क्+ऐ=कै

ओ " " १ " क्+ओ=को

औ " " १ " क्+औ=कौ

अं " " " क्+ज=कं

अः " " : " क्+अः=कः

इस प्रकार क् + ग्र = क, स्वरित हो सकता है। इसी प्रकार प् + इ = पि। अर्थात् व्यंजनों को स्वरित करने के लिए उनको किसी स्वर से संयुक्त करना पड़ता है। स्वर तो स्वतः बोला जा सकता है इस कारण वह स्वतः ही स्वर है। व्यंजन को किसी स्वर से संयुक्त करना पड़ता है जिससे कि उसको उच्चारण जा सके।

यहाँ पर उपनिषद्कार का कथन है कि शिक्षा आरम्भ करने के लिए वर्णों का ज्ञान कराना आवश्यक है। अर्थात् वर्णों के लिखित रूप और उनके उच्चारण की रीति को सीखना चाहिए। स्वरों का ज्ञान तदनन्तर स्वरों की मात्राओं का और व्यंजनों का ज्ञान और उनका व्यंजनों के साथ संयोग का ज्ञान होना चाहिए। तदनन्तर स्वरों पर बल से अर्थभेद का ज्ञान कराना चाहिए। स्वर का जब उच्चारण किया जाता है तो उसमें कुछ समय लगता है। उदाहरणार्थ यदि 'अ' अक्षर का उच्चारण किया जाये तो इस उच्चारण में जो समय लगता है उसके पूर्वभाग में यदि बल दिया जाय तो अर्थ हो जायेगा 'आर्तनाद', दुःखः अथवा पीड़ा की अभिव्यक्ति। यदि बल मध्य में हो तो सामान्य आह्वान अर्थात् किसी को बुलाया गया है। यदि 'अ' वर्ण के उच्चारण के समय बल, स्वर के अन्तिम भाग पर दिया जाय तो उसका अर्थ हो जायेगा आह्लाद, प्रसन्नता तथा हर्ष।

इसीलिए, उपनिषद्कार कह रहा है कि वर्ण, स्वर मात्रा के साथ बल का भी ज्ञान कराना चाहिए। साम का अभिप्राय है उच्चारण करते हुए ध्वनि समान रखनी चाहिए। बोलते-बोलते कभी अकारण ऊँचा, कभी मध्यम, कभी जल्दी-

जल्दी और कभी धीरे-धीरे बोलना, ये सब बोलने के दोष हैं। समान गति से समान बल देकर बोलने को साम कहते हैं।

इतना ज्ञान होने के उपरान्त ही शब्दों का ज्ञान कराना चाहिए। वर्ण से शब्द और शब्दों से वाक्य किस प्रकार बनते हैं, यह व्याकरण का विषय है।

तृतीय अनुवाक

सह नो यशः । सह नौ ब्रह्मवर्चसम् । अथातः संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः । पंचस्वधिकरणेषु । अधिलोकमधिज्योतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम् । ता महासंहिता इत्याचक्षते । अथाधिलोकम् । पृथिवी पूर्वरूपम् । द्यौरुत्तररूपम् । आकाशः संधिः । वायुः संधानम् । इत्यधिलोकम् ॥१-३-१॥

अर्थ—हम दोनों, गुरु और शिष्य यशस्वी हों। हम ब्रह्मवर्चस् को प्राप्त हों। अब हम संहिताओं की व्याख्या करते हैं। संहितायें हैं अधिलोक, अधि ज्योतिष, अधि विद्य, अधि प्रज और अधि आत्म।

अधिलोक—पृथिवी पूर्वरूप है, द्यौ उत्तर रूप है और आकाश है संधि वायु संधान। यह अधिलोक है।

विवेचना—इससे पूर्व द्वितीय अनुवाक में भाषा सीखने की रीति बताई गई है। उसमें कहा गया है कि वर्णों का स्वरूप पहचानना चाहिए। वर्णों में स्वर तथा व्यंजनों की पहचान और स्वरों की मात्रायें एवं उनका प्रयोग, तदनन्तर वर्णों का उच्चारण और उसमें बल तथा साम का ज्ञान होना चाहिए। और अन्त में वर्णों से शब्द तथा वाक्य बनाने का ढंग आना चाहिए। अब इस अनुवाक में भाषा की संहति अर्थात् प्रयोग के विषय में बताया गया है। इसमें कहा गया है कि भाषा के पाँच प्रयोग हैं। एक अधिलोक, दूसरा अधि ज्योतिष, तीसरा अधि विद्य, अर्थात् सामान्य-ज्ञान, चौथा अधि प्रज अर्थात् उत्पत्ति का ज्ञान, और पाँचवाँ अधि अत्म अर्थात् तत्त्व का ज्ञान।

उपनिषदकार का मन्तव्य है कि इन पाँचों में ही सम्पूर्ण ज्ञान समाहित है।

इसी मन्त्र में उपनिषदकार अधिलोक का अर्थ भी स्पष्ट करता है। उसने कहा है कि पृथिवी है पूर्वज्ञान, द्यौ है उत्तर ज्ञान और उसमें संधि करने वाले आकाश का ज्ञान यह अधिलोक है। वायु सम्बन्ध जोड़ने वाली है।

उपनिषदकार का कथन है कि इन पाँचों विषयों का ज्ञान प्राप्त कर लेने से दोनों (गुरु और शिष्य) को यश प्राप्त होगा और ब्रह्मवर्चस् की प्राप्ति होगी। यश

का अभिप्राय है इन पाँचों विषयों का ज्ञान प्राप्त करने से गुरु और शिष्य दोनों ब्रह्म अर्थात् परमात्मा के ज्ञान से विभूषित हो जायेंगे।

इस अनुवाक के इस मन्त्र में प्रथम विषय अधिलोक की व्याख्या की गई है। कहा है कि पृथिवी इस विषय का पूर्वरूप है। पृथिवी, जिसपर गुरु और शिष्य दोनों अध्ययन कर रहे हैं, वह कहाँ से और किस प्रकार बन गई? इसका अभिप्राय है सांख्य दर्शन का पूर्ण ज्ञान। सांख्य दर्शन में कहा गया है—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहंकारात्
पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः ॥

सांख्य० १-६१॥

इसका अर्थ है कि प्रकृति सत्त्व, रजस्, तमस् की साम्यावस्था का नाम है। यह बदलती है और इसके चौबीस रूप बनते हैं। जब ये चौबीस रूप बन जाते हैं तो इसमें पचीसवाँ गण (आत्मा) आकर बैठ जाता है। तब पृथिवी पर के सब पदार्थ और उनमें जीव-जन्तु भी बन जाते हैं। यह है पृथिवी पूर्वरूप।

ये चौबीस रूप निम्न प्रकार हैं—

महत्—१, अहंकार—२, तन्मात्रा—५, इन्द्रियाँ—१० और महाभूत—५;
जीव (आत्मा) पञ्चीसवाँ पुरुष।

इस अधिलोक में आगे कहा है कि द्यौ के नीचे का रूप भी जानना है। द्यौ व्योम का वह भाग कहाता है जो सौर-मण्डल के घेरे में है। यह बताया गया है कि अधिलोक द्यौ के नीचे है। इस स्थान में जो कुछ घटा है उसका ज्ञान प्राप्त करना शिक्षा का कार्य है। क्या घटा है इसके नीचे? यह जानने के लिए ऋग्वेद १०-१२६ तथा १-१६३ को जानना चाहिए। उक्त मन्त्रों का सारांश इस प्रकार है—

आदि में यहाँ कुछ भी नहीं था। सर्वत्र अन्वकार ही छाया हुआ था। उस समय न तो कुछ बन रहा था और न बिगड़ ही रहा था। उस समय यहाँ एक तो आनीत् अवातम् था और एक दूसरा स्वधा-प्रकृति थी। आनीत् अवातम् का अर्थ है निश्चल शक्ति। परमात्मा की यदृच्छा से निश्चल शक्ति सजग हो गई और वह स्वधा के परमाणुओं पर आरुढ़ हो गई। इससे परमाणुओं की साम्यावस्था भंग हो गई। इन्द्र, जो पहले परमाणु में छिपा बैठा था, वह भी बहिर्मुख होकर प्रकट हो गया। तब परमाणु परस्पर आकर्षण-विकर्षण करने लगे। इससे संयोग बनने लगे और तीन प्रकार के निबन्धन बन गये। ये निबन्धन आपः कहे जाते हैं। सृष्टि के सारे पदार्थ आपः से ही बने हैं।

यह प्रक्रिया थी द्यौ लोक के नीचे पृथिवी बनने की। यह भी अधिलोक का अंग है।

इस मन्त्र में कहा गया है कि द्यौ लोक और पृथिवी में आकाश सन्धि है।

अर्थात् वह मिलने का स्थान है। आकाश को अन्तरिक्ष भी कहते हैं।

मन्त्र में आगे कहा है कि वायु संधान है अर्थात् सन्धि करने वाला है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि आपः में वायु के कारण संयोग होते हैं। प्रत्येक वस्तु के अवयवों को जोड़ने वाली वायु है।

ऋग्वेद १-२ में कहा है कि वायु वह शक्ति है कि जिससे वस्तु सुन्दर और सुखकारक बनती है। यह परमात्मा की शक्ति है। और बृहदारण्यक उपनिषद् ३-७ में कहा है कि वायु ही जगत् के सब पदार्थों के अवयवों को बाँधे हुए है।

स होवाच वायुर्वै गौतम तत् सूत्रं वायुना वं गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि सन्दृब्धानि भवन्ति। तस्मात् वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यलं सिषतास्याङ्गानोति वायुना हि गौतम सूत्रेण सन्दृब्धानि भवन्तीत्येवमेवंतद् याज्ञवल्क्यान्तर्यामिणं ब्रूहीति ॥ बृ० उ० ३-७-२॥

अर्थात् (याज्ञवल्क्य ने कहा) — हे गौतम ! वायु ही वह सूत्र है; वायुरूपी सूत्र से ही यह लोक-परलोक और समस्त भूत समुदाय गँधे हुए हैं। यही कारण है कि मरे हुए पुरुष को यह कहा जाता है कि इसके अंग विस्त्रस्त (पृथक्-पृथक्) हो गये हैं। क्योंकि हे गौतम ! वे वायुरूप सूत्र से ही संग्रथित होते हैं। आरुणि ने कहा — याज्ञवल्क्य ! तुम ठीक कहते हो। अब उस अन्तर्यामी का वर्णन करो।

अथाधिज्यौतिषम् । अग्निः पूर्वरूपम् । आदित्य उत्तररूपम् । आपः सन्धिः । वेद्युतः सन्धानम् । इत्यधिज्यौतिषम् ॥ १-३-२॥

अर्थ—अब अधि ज्योतिष के विषय में कहा जाता है। इसका पूर्वरूप अग्नि है। उत्तररूप आदित्य है। आपः सन्धि है। विद्युत् (शक्ति) संधानम् है। यह है अधि ज्योतिष का विषय।

विवेचना—अब ज्योतियों के विषय में वर्णन करते हैं। ज्योतियों से अभिप्राय है वे नक्षत्र जो प्रकाश दे रहे हैं। आकाश में कुछ नक्षत्र हैं जो प्रकाश प्रस्फुटित कर रहे हैं। किन्तु कुछ नक्षत्र ऐसे भी हैं जो पृथिवी की भाँति प्रकाश रहित होने से प्रकाशमान नक्षत्रों द्वारा प्रकाशित होते हैं। उपनिषदकार का कथन है कि अब उन नक्षत्रों के विषय में कहेंगे जो स्वतः प्रकाशित हैं।

इससे पूर्व पृथिवी के विषय में बताया गया था। अब सूर्य के विषय में बताया जा रहा है। इस मन्त्र में कहा है कि इसका पूर्वरूप अग्नि है। अग्नि से अभिप्राय वह अजर-अमर शक्ति है, जिसके विषय में ऋग्वेद १-१-१ में कहा है कि यह रचना-यज्ञ के पूर्व विद्यमान थी। हमने भी इससे पूर्व के मन्त्र की व्याख्या करते हुए यह

बताया था कि ऋग्वेद १०-१२६-२ के अनुसार रचना से पूर्व एक अनीत अवातम् अर्थात् प्राण शक्ति, जो निश्चल थी, विद्यमान थी। वहाँ यह भी बताया था कि परमात्मा की यदृच्छा होने पर यह निश्चल शक्ति सजग हो गई थी। यह ऋग्वेद १-१६३-१ में कहा गया है।

यहाँ उपनिषद् के इस मन्त्र में कहा है कि अग्नि प्रकाशमान् नक्षत्रों का पूर्व-रूप है। पूर्वरूप का अभिप्राय है कि प्रकाशमान् नक्षत्रों के पहले यह अग्नि विद्यमान थी। उन नक्षत्रों के निर्माण में इस अग्नि का प्रमुख भाग था। इसका अभिप्राय यह हुआ कि प्रकाशमान् नक्षत्रों में प्रविष्ट होने से पूर्व भी अग्नि विद्यमान थी।

ऋग्वेद १-११५-५ में यह बताया गया है कि आदित्य में पहले प्रकाश नहीं था। वह प्रथम वैसा ही अन्धकारमय था जैसी कि पृथिवी। कालान्तर में जब इस पर आपः और अग्नि का मिथुन हुआ, तब उसपर प्रकाश उत्पन्न होने लगा। इसी कारण यह कथन है कि 'प्रकाशमान् नक्षत्रों में आपः सन्धि है।' इसका अभिप्राय यह हुआ कि अग्नि और आपः के संयोग से प्रकाश उत्पन्न होता है। इस विषय में ऋग्वेद में यह उल्लेख है—

गोर्णं भुवनं तमसापगूळहमाविः स्वरभयज्जाते अग्नी ।

तस्य देवाः पृथिवी द्यौस्तापोऽरणयन्नोषधीः सख्ये अस्य ॥

१०-८८-२॥

देवेभिर्निर्वषितो यज्ञियेभिरग्निं स्तोषाण्यजरं बृहन्तम् ।

यो भानुना पृथिवीं द्यामुतेमामाततान रोदसी अन्तरिक्षम् ॥

१०-८८-३॥

अर्थात्—अन्धकार में निमग्न भुवन सूर्य-मण्डल में सूर्य-अग्नि के प्रकट होने पर प्रकाशमान हो गया। उसके सहाय से देवता, पृथिवी, बुलोक, आपः और ओषधियाँ प्रकाशमान हो प्रसन्नता से रमण करने लगीं।

यज्ञ के योग्य देवताओं (आपः) के द्वारा शीघ्र इच्छा किया हुआ बहुत बड़ी अजर अग्नि की स्तुति करता हूँ। अर्थात् अग्नि के सहाय से ही कार्य सिद्ध हुआ। जो अपने तेज से पृथिवी और लोकों को तपाकर अन्तरिक्ष को विस्तृत करता है।

अधिकांश भाष्यकार आपः का अर्थ जल करते हैं। यह अशुद्ध है। आपः प्रकृति के परमाणुओं के समूह हैं, जिनसे पृथिवी के सब पदार्थ बनते हैं (ऋ० १-१६३-२, ३)। इनको आधुनिक विज्ञान में 'ऐटमिक पार्टिकल्स' कहते हैं।

उपनिषद् के इस मन्त्र में कहा है कि विद्युत् संधान है। यहाँ विद्युत् से अभिप्राय ऊर्जा है। अर्थात् जब अग्नि और आपः का संयोग हो जाता है तो ऊर्जा उत्पन्न होती है। अग्नि और ऊर्जा में यह अन्तर है कि ऊर्जा तो उस शक्ति को कहते हैं जो इन्द्र से उत्पन्न होती है। इन्द्र परमाणु की साम्यावस्था में परमाणु के भीतर छिपा हुआ होता है। यह त्रिगुणात्मक शक्ति है। जब परमाणु असाम्यावस्था में होता है तो

इन्द्र (अर्थात् त्रिगुणात्मक शक्ति) बाहर को मुख कर लेता है। इसे ही विद्युत् कहा है। आदित्य इसका उत्तररूप है। अर्थात् इस सब क्रियाकलाप का परिणाम सूर्य है। यह ही सौर-मण्डल की ज्योति है।

शिक्षा का यह दूसरा विषय है।

अथाधिविद्यम् । आचार्यः पूर्वरूपम् । अन्तेवास्युत्तररूपम् । विद्या सन्धिः । प्रवचनं सन्धानम् । इत्यधिविद्यम् ॥१-३-३॥

अर्थ—अब विद्या के विषय में कहते हैं। इसका पूर्वरूप आचार्य है। अन्तर्वासी अर्थात् भीतर बसने वाला इसका उत्तररूप है। विद्या सन्धि है। प्रवचन सन्धान है। यह विद्या का विषय है।

विवेचना—विद्या का अभिप्राय शिक्षा नहीं है। यह शिक्षा से सर्वथा भिन्न है। शिक्षा का अभिप्राय है सिखाना और विद्या का अभिप्राय है जो सिखाई जाय। उपनिषद् की यह वल्ली शिक्षा के विषय में है। अर्थात् शिक्षा के अंगों के विषय में। इस वल्ली में बताया गया है कि क्या-क्या सिखाना चाहिए। सिखाने के विषयों के अन्तर्गत विद्या और अविद्या दोनों ही हैं। यजुर्वेद ४०-१४ में कहा है कि जो कुछ भी सिखाने को है वह किस प्रकार सिखाया जा सकता है। मन्त्र में कहा है कि विद्या का पूर्वरूप अर्थात् विद्या का स्रोत आचार्य-गुरु है। सीखने वाला भीतर बैठा शिष्य का आत्मा अथवा मन और बुद्धि है। शिष्य में सीखने वाले दो—मन और बुद्धि—तो शरीर के अंग हैं। जीवात्मा भी सीखता है। उसका सीखना मन और बुद्धि से भिन्न प्रकार का है। तथापि जीवात्मा को भी शिक्षा की आवश्यकता रहती है। इसको विद्या का उत्तर स्थान कहा है। विद्या को ग्रहण करने वालों में हम जीवात्मा को भी मानते हैं। जीवात्मा पर संस्कार डालना ही जीवात्मा की शिक्षा है।

मन्त्र में आगे कहा है कि सन्धि अर्थात् जो विद्या में दी जाती है वह विद्या है और विद्या देने का साधन प्रवचन है। आचार्य प्रवचन करता है विद्या का और शिष्य का मन, बुद्धि और जीवात्मा शिक्षित होते हैं।

अथाधिप्रजम् । माता पूर्वरूपम् । पितोत्तररूपम् । प्रजा सन्धिः । प्रजननं सन्धानम् । इत्यधिप्रजम् ॥१-३-४॥

अर्थ—अब सन्तानोपत्ति के विषय में वर्णन करते हैं। सन्तान का पूर्वरूप माता है। उसका उत्तर रूप पिता है। सन्धि प्रजा सन्तान है। भार्यागमन सन्धान है। यह सन्तान का विषय है।

त्रिवेचना—सन्तान उत्पन्न करने का विषय भी सिखाने के कार्य के अन्तर्गत ही है। सामान्य जन तो यह मानता है कि सन्तानोत्पत्ति के विषय में मनुष्य और पशु समान ही होते हैं। अतः इस विद्या के सिखाने की आवश्यकता नहीं समझी जाती। यह तो प्रकृत्या प्राणी को उपलब्ध है। कदाचित् उपनिषदकार का अभिप्राय उस विद्या से हो जिसे अंग्रेजी में eugenics कहते हैं। परन्तु यहाँ पर प्रयुक्त 'प्रजनन' शब्द से तो सन्तानोत्पत्ति की ही बात समझ में आती है।

इसमें एक बात विशेष उल्लेखनीय है। इस मन्त्र में माता को पूर्वरूप कहा है और पिता को उत्तर रूप। व्यवहार में इसके विपरीत कार्य होता है। इससे पूर्व के मन्त्रों में तो पूर्वरूप में उन पदार्थों का वर्णन है जिनसे कार्य आरम्भ होता है। उदाहरण के रूप में प्रकृति को पूर्वरूप कहा है और द्यौ को उत्तर रूप कहा है। अन्य स्थान पर प्रकाशमान् पदार्थों में अग्नि को पूर्वरूप कहा है और सूर्य को उत्तर रूप कहा है। इसी प्रकार एक अन्य मन्त्र में आचार्य को पूर्वरूप कहा है और अन्तर्वासी को उत्तररूप कहा है। इसके समान ही पिता को पूर्वरूप और माता अथवा सन्तान को उत्तररूप कहना चाहिए था।

हमारे मत में उपनिषदकार ने यहाँ पर कुछ अशुद्ध कह दिया है। यदि इस प्रकार कहा जाता तो इसका पूर्वापर सम्बन्ध उचित रूप से बैठ सकता था। साथ ही जो कुछ संसार में घटित हो रहा है उसके अनुकूल ही यह कथन सिद्ध होता।

सन्तान निर्माण कार्य में पिता पूर्वरूप है। माता उत्तररूप है। प्रजनन सन्धान है। प्रजा सन्धि है।

अथाध्यात्मम् । अधरा हनुः पूर्वरूपम् । उत्तरा हनुरुत्तररूपम् । वाक् सन्धिः । जिह्वा सन्धानम् । इत्यध्यात्मम् ॥१-३-५॥

इतीमा महासंहिता । य एवमेता महासंहिता व्याख्याता वेद । संधीयते प्रजया पशुभिः । ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्गेण लोकेन ॥

१-३-६॥

अर्थ—अब अध्यात्म के विषय में कहेंगे। इसमें नीचे का जबड़ा (निचले होंठ से ठोड़ी तक) पूर्वरूप है और ऊपर का जबड़ा (ऊपर के होंठ से लेकर नासिका तक) उत्तररूप है। वाक् सन्धि है। जिह्वा सन्धान है। यह अध्यात्म है।

बस ये ही संहितायें (संयोग अर्थात् विषय) हैं जो शिक्षा में माने जाती हैं। जो व्यक्ति इनको ऐसे ही मानता है, वह प्रजा, पशुओं, अन्न ब्रह्मतेज और स्वर्ग लोक को प्राप्त करता है।

विवेचना— इस मन्त्र में पुनः कुछ इस प्रकार वर्णन कर दिया गया है जोकि न तो स्पष्ट है और न ही व्यवहार्य है। पहली बात जो स्पष्ट नहीं है, वह है संहिता का अभिप्राय। इस अनुवाक में शिक्षा का प्रसंग चल रहा था और स्वाभाविक रूप में ये वे विषय हैं जिनमें शिक्षा की आवश्यकता है। इस कारण शिक्षा में संहिता अर्थात् संयोग करनेवाली न तो वाणी है, न ही उसका उच्चारण करनेवाले जबड़े। संहिता वे विषय हैं कि जिनकी मनुष्य को शिक्षा मिलनी चाहिए।

दूसरी बात अध्यात्म के विषय में है। अध्यात्म का सर्वमान्य अर्थ तो आत्मा और परमात्मा का ज्ञान है। अधि+आत्म का अभिप्राय है आत्मा के विषय में। आत्मतत्त्व दो हैं। एक परमात्मा और दूसरा जीवात्मा। हम समझते हैं कि यहाँ पर उपनिषद्कार इन दोनों के ही विषय में कहना चाहता है। परन्तु उस शिक्षा का आधार ऊपर अथवा नीचे के जबड़े नहीं हैं। वह इसके अतिरिक्त कुछ अन्य ही है। हम समझते हैं अध्यात्म की शिक्षा प्राप्त करने के लिए उसका पूर्वरूप वेद है, उत्तर रूप अन्तरात्मा है। अन्तरात्मा के अन्तर्गत मन, बुद्धि और जीवात्मा, ये तीनों ही हैं। ये तीनों उसके उत्तर रूप हैं। सन्धि, तर्क तथा योगाभ्यास है। तर्क और योगाभ्यास समकक्ष की क्रियाएँ हैं। दोनों ही मनुष्य के अन्तःचक्षु खोल देते हैं। अध्यात्म के ज्ञान के लिए संधान भी योगाभ्यास ही है। योगाभ्यास से बुद्धि निर्मल होती है।

जहाँ तक अध्यात्म की शिक्षा का सम्बन्ध है हम समझते हैं कि उपनिषद्कार का मन्तव्य भी वही है जो हमने व्यक्त किया है। वह इसलिए कि उपनिषद्कार भी शिक्षा का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष ही स्वीकार करता है। आत्मा और परमात्मा के ज्ञान के बिना मोक्ष सम्भव नहीं है।

चतुर्थ अनुवाक

यदछन्दसामृषभो विश्वरूपः । छन्दोभ्योऽध्यमृताद् संबभूव । स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु । अमृतस्य देव धारणो भूयासम् । शरीरं मे विचर्षणम् । जिह्वा मे मधुमत्तमा । कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम् । ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः । श्रुतं मे गोपाय ॥१-४-१॥

अर्थ—जो छन्दों (वेदों) में सर्वश्रेष्ठ और समस्त रूप वाला वर्णित है; जो छन्दों (कविता) से प्रसवित अमृत से प्रकाशित (संयुक्त) है, वह इन्द्र (परमात्मा) मुझे बुद्धि से प्रसन्न (बलयुक्त) करे। हे देव ! तुम्हारी कृपा से मैं अमृत को (ब्रह्मविद्या को) धारण करने वाला

होऊँ। मेरा शरीर सक्रिय हो। वाणी अति मधुर भाषण करने वाली हो। मैं कानों से भली प्रकार सुन सकूँ। छन्द (वेद) ज्ञान का कोष है। मेधा बुद्धि से आच्छादित (बुद्धि से जाना जाने योग्य) जो ज्ञान है, वह मैं सुनूँ। उसकी तू रक्षा कर। वह कोश तू मुझे प्राप्त करा और मैं धनवान बनूँ।

आवहन्ती वितन्वाना। कुर्वाणाऽचीरमात्मनः। वासाँसि मम गावश्च। अन्नपाने च सर्वदा। ततो मे श्रियमावह। लोमशां पशुभिः सह स्वाहा ॥१-४-२॥

आमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा ॥१-४-३॥

अर्थ—मेरे लिए वस्त्रों को, गायों को चिरकाल तक प्राप्त कराओ और विस्तार दो। मेरी ऊन वाली भेड़ों आदि पशुओं को बढ़ाओ। मेरे पास ब्रह्मचारी सीखने के लिए (अपने) कल्याण के लिए आवें। विशेष प्रयोजन से (वे इन्द्रियों के दमन के लिए मेरे पास आवें) शान्ति के लिए मेरे पास आवें।

गुरु परमात्मा से प्रार्थना करता है कि वह शिक्षा देने में इतनी ख्याति प्राप्त कर ले कि वह धन-धान्य वस्त्रादिक और पशु आदि से सम्पन्न होवे और ब्राह्मण-क्षत्रिय व वैश्य ब्रह्मचारी उससे ज्ञान प्राप्त करने के लिए और अपनी उन्नति के लिए आवें।

प्रथम मन्त्र में तो वेद की महिमा का वर्णन है। इन मन्त्रों में गुरु अपने अभ्युदय के लिए परमात्मा से प्रार्थना कर रहा है।

यशो जनेऽसानि स्वाहा। श्रेयान् वस्यसोऽसानि स्वाहा। तं त्वा भग प्रविशानि स्वाहा। स मा भग प्रविश स्वाहा। तस्मिन् सहस्रशाखे। नि भगाहं त्वयि मृजे स्वाहा ॥१-४-४॥

यथापः प्रवता यन्ति। यथा मासा अहर्जरम्। एवं मां ब्रह्मचारिणो धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा। प्रतिवेशोऽसि प्र मा पाहि प्र मा पद्यस्व ॥

अर्थ—मैं जन-जन में यशस्वी होऊँ। मेरा कल्याण हो। धनवानों में श्रेष्ठ होऊँ। मेरा कल्याण हो। तुम्हारे ऐश्वर्य-लोक में प्रवेश पाऊँ। मेरा कल्याण हो। मेरे ऐश्वर्य में तू प्रवेश करे। मेरा कल्याण हो। तुम सहस्र शाखाओं वाले में (अगणित ज्ञान-कार्यों में) मैं स्वयं को माजित करूँ। मेरा कल्याण हो।

जैसे जल नीचे को बहता है और जैसे दिन मास और वर्ष में लीन होते हैं, इसी प्रकार ब्रह्मचारी मेरे पास आवें। मेरा कल्याण हो। तू मेरा आश्रय स्थान है। तू मुझको चमका दे (विव्याप्त कर दे)। तू मुझे प्राप्त हो।

गुरु अपना कल्याण और सब प्रकार की समृद्धि की कामना कर रहे हैं, जिससे कि वह ज्ञान-प्रदान में सफल हो सके।



पंचम अनुवाक

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्त्रो व्याहृतयः। तासामुह स्मृतां चतुर्थीम् माहाचमस्यः प्रवेदयते। मह इति। तद्ब्रह्म। स आत्मा अज्ञान्यया देवताः। भूरिति वा अयं लोकः। भुव इत्यन्तरिक्षं। सुवरित्यसौ लोकः। मह इत्यादित्यः। आदित्येन वा व सर्वे लोका महीयन्ते ॥१-५-१॥

अर्थ—भूः, भुवः, सुवः तीन व्याहृतियाँ हैं। उनमें यह चौथी व्याहृति को महा चमस् की सन्तान जानता है। यह महः ही ब्रह्म है। वह आत्मा है। अन्य सब देवता उसके अंग हैं।

विवेचना—व्याहृति का अर्थ है कथन, वाक्य, घोषणा, वक्तव्य। मोनियर विलियम्स अपने शब्दकोश में इस शब्द के अर्थ करता है—अटरेस, स्पीच, डिक्लरेशन, स्टेटमेंट।

प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यह कथन किसके विषय में है? उपनिषद्कार चार प्रकार के पदार्थों के विषय में कहता है। इस मन्त्र में एक प्रकार का वर्णन किया है। शेष तीन प्रकार आगे के मन्त्रों में कहेगा। भूः इस लोक का कथन है। लोक से अभिप्राय है वे सब नक्षत्र जिनपर प्राणियों का वास है। व्यवहारिक रूप में इसका अभिप्राय पृथिवी से है। भुवः अन्तरिक्ष है। अन्तरिक्ष वह स्थान है जो सूर्य और हमारी पृथिवी के भीतर है। सुवः द्यु लोक है। द्यु लोक उस स्थान को कहते हैं जो सूर्य के प्रभाव में है। अर्थात् वह सब स्थान जिसमें सौर-मण्डल का फैलाव है। महः आदित्य है। आदित्य से सब लोक महिमावान् होते हैं। यहाँ आदित्य से अभिप्राय सूर्य भी हो सकता है। उपनिषद्कार महः को ब्रह्म और

आत्मा कहता है। और यहाँ महः को आदित्य कहा है। ब्रह्म और आत्मा सूर्य से बहुत बड़े हैं। इस कारण यहाँ आदित्य का अर्थ प्रकाशमान ब्रह्म अथवा आत्मा भी हो सकता है। अर्थात् महः ब्रह्म है अथवा यह वह स्थान है जहाँ ब्रह्म का वास है। यह स्थान असीम है। इसको ऐतरेय उपनिषद् में अम्भ कहा है। ब्रह्मसूत्र में इसको अम्बर कहा है। यह स्थान असीम है। इस मन्त्र का 'मह इत्यादित्य' से आरम्भ कर 'महीयन्ते' तक का पद कई एक पुस्तकों में मन्त्र संख्या दो के साथ दिया है। परन्तु यदि हम अर्थ पर दृष्टिपात करें तो उससे यह स्पष्ट व्यक्त होता है कि यह इस मन्त्र का ही अंश है।

इस मन्त्र में महाचमस्य का भाष्यकारों ने अर्थ किया है—'ऋषि महाचमस् का पुत्र'। किन्तु हमारी दृष्टि में यह अर्थ संगत नहीं है। महाचमस् का अर्थ है 'चमसवत् महत् की सन्तान'। महत् प्रकृति का प्रथम परिणाम है। सांख्य का मत है कि प्रकृति से महान् बनता है। महान् से अहंकार...। इस प्रकार प्रकृति के परिणाम बनते जाते हैं। महत् चमसवत् हो जाता है। ब्रह्मसूत्र में भी ऐसा वर्णन है। वहाँ कहा है—

महद्वच्च ।

चमसवद्विशेषात् ॥ ब्र० सू० १-४-७, ८॥

अर्थात् और महत् है चमस् की भाँति सामान्य अर्थों में।

सामान्य अर्थ से यहाँ यह अभिप्राय है कि चमस् के सामान्य अर्थ ही ग्रहण किये जाने चाहिए। अर्थात् एक कलछी की भाँति। जब महत् बन जाता है तो इसका रूप एक कलछी की भाँति हो जाता है। अर्थात् एक ओर से बन्द और दूसरी ओर से खुला चम्मच के मुख की भाँति हो जाता है।

महाचमस्य का अर्थ महत् चमसवत् क्यों करें? क्योंकि व्याहृतियों के इस प्रकार में लोक, अन्तरिक्ष और ब्रुलोक का वर्णन आया है। इन सबकी उत्पत्ति महत् से ही होती है।

'महत् की सन्तान जानती है' का अभिप्राय है कि जगत् जानता है। महत् की सन्तान जगत् ही है। जगत् क्या जानता है? वह यह जानता है कि इसका निर्माता कौन है? वह निर्माता परमात्मा है। यही कारण है कि उसको ब्रह्म कहा गया है।

महाचमस् ऋषि की सन्तान क्या जानता है और क्या नहीं जानता, इस विषय में कहीं किसी प्रकार का उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु महत् की सन्तान जगत् तो उच्च स्वर में घोष कर रहा है कि 'परमात्मा है'। इसीलिए कहा है कि महत् महा व्याहृति है।

उपनिषद् में व्याहृतियों में चार पद माने हैं। वे हैं भूः, भुवः, स्वः और महः। परन्तु तैत्तिरीय आरण्यक में एक मन्त्र है—

ओं भूः ओं भुवः ओं स्वः ओं महः ओं जनः ओं तपः ओं सत्यम् ।

इस मन्त्र में कथनीय अर्थात् व्याहृतियाँ सात बताई गई हैं।

उपनिषद्कार ने तीन कथनीय अर्थात् व्याहृतियों को क्यों छोड़ दिया है अथवा कहना चाहिए कि इस उपनिषद् में किसलिए छोड़ दिया गया है, यह स्पष्ट नहीं है।

भूरिति वा अग्निः । भुव इति वायुः । सुवरित्यादित्यः । मह इति चन्द्रमाः । चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतींषि महीयन्ते ॥१-५-२॥

भूरिति वा ऋचः । भुव इति सामानि । सुवरिति यजूंषि । मह इति ब्रह्म । ब्रह्मणा वा व सर्वे वेदा महीयन्ते ॥१-५-३॥

भूरिति वै प्राणः । भुव इत्यपानः । सुवरिति व्यानः । मह इत्यन्नम् । अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते ॥१-५-४॥

ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्धा । चतस्रश्चतस्रो व्याहृतयः । ता यो वेद । स वेद ब्रह्म । सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति ॥ १-५-५॥

अर्थ—भूः अग्नि है। भुवः वायु है। सुवः आदित्य है। महः चन्द्रमा है। चन्द्रमा से ही सम्पूर्ण ज्योतियाँ महिमायुक्त होती हैं।

भूः ऋग्वेद है। भुवः सामवेद है। सुवः यजुर्वेद है। महः ब्रह्म है। ब्रह्म से ही सब वेद महिमावान् होते हैं।

भूः प्राण है। भुवः अपान है। सुवः व्यान है। महः अन्न है। अन्न से ही सब प्राण महिमावान् होते हैं।

इस प्रकार चार व्याहृतियाँ चार प्रकार से कही गई हैं। चार प्रकार की भूः भुवः स्वः और महः चार विभिन्न प्रकार से वर्णन की जाती हैं। जो इनको जानता है वह ब्रह्म को जानता है। इसमें सब देवता (इनके लिए) बलि (भेंट) लाते हैं।

विवेचना—द्वितीय मन्त्र में व्याहृतियाँ हैं अग्नि, वायु, आदित्य तथा चन्द्रमा । महः चन्द्रमा कहा है।

अग्नि से अभिप्राय है परमात्मा का तेज जिसका वर्णन ऋग्वेद १-१-१ में किया गया है। यह अनादि अग्नि परमात्मा का लिंग है और सदा ही विद्यमान रहता है। यही इस जगत् का कारण है। ऋग्वेद १-१६३-१, २, ३, ४ में इसको अश्वः अथवा अर्वः कहा है। ऋ० १०-१२६-३ में इसी अग्नि को तेज कहा है। यह अग्नि जगत् का रचना-कार्य करती है।

प्रस्तुत उपनिषद् में इस मन्त्र में भुवः को वायु कहा है। यहाँ वायु से अभिप्राय

है परमात्मा की शक्ति। यह अग्नि का दूसरा रूप है। परमात्मा की शक्ति जगत् की रचना में अनेक कार्य सम्पन्न करती है। विभिन्न कार्य सम्पन्न करते हुए तदनुसार इसके नाम भी बदल जाया करते हैं। रचना-कार्य में विशिष्ट होने के कारण इस शक्ति का नाम वायु है। अग्नि जब पदार्थों को संगठित करने का कार्य करती है तो इसको वायु कहा जाता है। (विशेष दृष्टव्य ऋग्वेद १-२-१, २, ३ तथा बृ० उ० ३-७।) अभिप्राय है पदार्थों में परमाणुओं को संगठित करने वाली परमात्मा की शक्ति को वायु कहते हैं।

इस मन्त्र में सुवः को आदित्य कहा है। यहाँ पर इस 'आदित्य' का अर्थ सूर्य भी हो सकता है और वैश्वानर अग्नि भी। वेदानुसार जगत् रचना की प्रक्रिया कुछ इस प्रकार है कि प्रलयकाल में परमात्मा की शक्ति सुषुप्ति अवस्था में होती है। ऋग्वेद १०-१२९-२ में इसको 'आनीत अवातम्' कहा है। जब यह जागृत होता है तो रचना आरम्भ हो जाती है। यह ऋग्वेद १-१६३-१, २ से स्पष्ट है। तदनन्तर परमाणुओं से निबन्धन बनने लगते हैं। उस समय वह वायु कहलाती है। वायु के आकर्षण-विकर्षण से हिरण्यगर्भ (नैबुला) बन जाता है और उसमें आदि अग्नि का रूप वैश्वानर कहाता है। यह वैश्वानर ही आपः निबन्धनों के सहयोग से आदित्य में प्रकाश और ऊष्मा उत्पन्न करता है। इस कारण इस मन्त्र में सुवः का अर्थ आदित्य सूर्य भी हो सकता है और वैश्वानर भी हो सकता है। इसपर भी हम अग्नि के इस रूप को वैश्वानर ही ठीक समझते हैं।

उपनिषद् के इस मन्त्र में महः को चन्द्रमा कहा है। उपनिषदों में चन्द्रमा शब्द यत्र-तत्र आया है। अधिकांश स्थानों पर चन्द्रमा से वह अभिप्राय नहीं होता जो कि चन्द्रमा नामक ग्रह पृथिवी की परिक्रमा करता रहता है। तदनुसार यहाँ भी उसका अभिप्राय उस ग्रह से नहीं है।

इस उपनिषद् में चन्द्र से अभिप्राय सोम स्वरूप परमात्मा है। इस मन्त्र में कहा है कि चन्द्रमा से सब ज्योतियाँ प्रकाशमान होती हैं। पृथिवी पर से शुक्ल पक्ष में दिखाई देने वाले चन्द्रमा से सब ज्योतियाँ (प्रकाशमान नक्षत्र) प्रकाशमान नहीं होतीं। मूलरूप में तो वे परमात्मा से ही प्रकाशमान होती हैं।

अतः इस मन्त्र में चन्द्रमा का अर्थ परमात्मा ही ग्रहण करना चाहिये। यहाँ व्याहृतियों का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि भूः परमात्मा की अग्नि है। वह अग्नि रचना से पहले ही लोककल्याण के कार्य में संलग्न थी। ऋग्वेद १-१-१ में इसको पुरोहितम् कहा है, जिसका अभिप्राय है रचना से पहले ही स्थित होने वाली।

चन्द्रमा के विषय में यह भी कहा है कि इससे सब ज्योतियाँ महिमावान् होती हैं। ज्योतियों से अभिप्राय है अन्तरिक्ष के सब प्रकाशमान नक्षत्र। उस चन्द्रमा से जो शुक्लपक्ष में रात के समय पृथिवी पर प्रकाश करता है उससे सब

सूर्यादि नक्षत्र प्रकाशित होते हैं, यह उक्ति अशुद्ध सिद्ध होने लगेगी।

उपनिषद् के अगले मन्त्र अर्थात् १-५-३ में उपनिषद्कार ने ऋक्, यजुः और साम का उल्लेख किया है, किन्तु अथर्व का उल्लेख नहीं किया। उसमें महः को परमात्मा स्वीकार किया है। इसके साथ ही यह भी कहा है कि ब्रह्म से ही सब वेद महिमावान् होते हैं। तब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि उपनिषद्कार ने 'तीन वेदों' के साथ अथर्ववेद का भी नामोल्लेख क्यों नहीं किया? अन्य अनेक स्थलों में भी केवल इन वेदों का ही एक साथ उल्लेख उपलब्ध होता है, चौथे का नहीं। ऐसा क्यों है? इस सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि वेद को त्रयी विद्या कहा है। उस त्रयी-विद्या से इन तीन वेदों का ही अभिप्राय है।

इसे हम इस प्रकार नहीं मानते। हमारे मत में त्रयी विद्या से अभिप्राय ऋक्, यजुः और साम नहीं है। अपितु यह वेद के मुख्य विषयों की ओर संकेत करता है। ये तीन विषय हैं शिक्षा, ज्योतिष और कल्प। इन तीनों विषयों का उल्लेख न्यूनाधिक रूपेण सभी वेदों में पाया जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि त्रयी विद्या का अभिप्राय मात्र ऋक्, यजुः और साम वेद नहीं है। साथ ही यजुर्वेद ३१-७ में ऋक्, यजुः और साम के उल्लेख के साथ चौथा वेद 'छन्दांसि' के नाम से उल्लिखित है। वहाँ पर छन्दांसि से अभिप्राय 'अथर्ववेद' ही है।

हमारा मत है कि उपनिषद्कार ने भूलवश अथवा भ्रमवश या किसी अन्य प्रयोजन से भी हो सकता है, चार व्याहृतियों का उल्लेख कर दिया है। यही कारण है कि जहाँ चार से अधिक का वर्णन करना होता है वहाँ चार कहकर अन्य को छोड़ना पड़ जाता है। इसी कारण प्राणों का वर्णन करते समय जब वायुओं का वर्णन होने लगा तो पाँचवीं वायु का नाम छोड़ दिया गया। प्रस्तुत उपनिषद्कार द्वारा प्रस्तुत उपनिषद् की रचना के अवसर पर वर्णनीय पदार्थों के संग्रह में जहाँ चार से अधिक नाम आने लगे, वहाँ चार का उल्लेख कर शेष को छोड़ दिया गया है। वेदों में अथर्ववेद को तथा वायुओं में समान वायु को भी इसी कारण छोड़ दिया गया है।

प्राण सात माने गए हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियों में पाँच प्राण हैं। ज्ञानेन्द्रियों के प्राण परस्पर एक-दूसरे के स्थानापन्न नहीं हो सकते। यही कारण है पाँच ज्ञानेन्द्रियों में पाँच ही प्राणों की भी मान्यता है। सभी कर्मेन्द्रियों में एक ही प्रकार का प्राण कार्यरत है। यही कारण है कि एक कर्मेन्द्रिय अन्य कर्मेन्द्रिय के स्थान पर कार्य कर सकती है। इस प्रकार ये छः प्राण हुए और सातवाँ प्राण श्रेष्ठ प्राण है। यह श्रेष्ठ प्राण न तो अन्य छः प्राणों का स्थानापन्न हो सकता है और न ही यह अपने विभागों में परिवर्तन कर सकता है।

श्रेष्ठ प्राण के पाँच विभाग हैं। ये विभाग पाँच वायु कहलाती हैं। इनके नाम हैं : प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान। इनको वा. इस कारण कहा जाता है

क्योंकि ये गतियाँ उत्पन्न करते हैं। इनको परस्पर एक-दूसरे में भी नहीं बदला जा सकता। तदपि एक 'श्रेष्ठ' नाम से कहे जाने पर भी ये पाँच ही हैं। इस प्रकार प्राण सात हैं।

तैत्तिरीय आरण्यक की सात व्याहृतियाँ हैं—भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम्।

इन व्याहृतियों का शिक्षा से घना सम्बन्ध है। शिक्षा प्रकरण में वर्ण, शब्द और वाक्यों के बनाने की रीति अर्थात् ज्ञान कराने के उपरान्त शिक्षा की संहिताओं अर्थात् उसके विषयों का वर्णन कर ज्ञान के प्रति वेदों का वर्णन कर दिया है। वेद का ज्ञान देने वाले सर्व-व्यापक, सर्वज्ञ परमात्मा का वर्णन कर परमात्मा से याचना की गई है कि परमात्मा गुरु को सामर्थ्यवान् करे ताकि वह उचित शिक्षा प्रदान कर यश प्राप्त कर सके।

इसके उपरान्त उपनिषद्कार ने सर्वोत्तम व्याहृतियाँ अर्थात् कथनीय चार प्रकार की बातें कही हैं। उपनिषद्कार ने चार प्रकार से चारों व्याहृतियों (कथन) का वर्णन किया है। सब कथनीय पदार्थों में चार-चार प्रकार नहीं।

षष्ठ अनुवाक

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। अमृतो हिरण्मयः। अन्तरेण तालुके। य एष स्तन इवावलम्बते। सेन्द्रयोनिः। यत्रासौ केशान्तो विवर्तते। व्यपोह्य शीर्षकपाले। भूरित्यग्नौ प्रतिष्ठति। भुव इति वायौ ॥१-६-१॥

अर्थ—यह जो हृदय में आकाश (अवकाश) है, उसमें यह मनोमय पुरुष (मन से युक्त जीवात्मा) रहता है। वह अविनाशी है और हिरण्मय (चेतना से युक्त) है। तालू के भीतर जो स्तन की भाँति लटक रहा है वह इन्द्र योनि है। जहाँ केशों का अन्त है, सिर का कपाल फूटता है, वहाँ 'भूः' नाम की अग्नि और वायु शक्ति रहती है।

विवेचना—इस मन्त्र में बहुत कुछ विचारणीय और जानने योग्य है। वह इस प्रकार है—

१. हृदय का अभिप्राय मानव शरीर में रक्त संचालन यन्त्र नहीं है। यहाँ हृदय से अभिप्राय मनुष्य के मस्तिष्क से है। वहीं से सम्पूर्ण शरीर को नियन्त्रित किया जाता है। मस्तिष्क से शिरायें निकलकर शरीर में फैलती हैं और मस्तिष्क में बैठा हुआ पुरुष अर्थात् जीवात्मा पूर्ण शरीर का नियन्त्रण करता है।

२. मन्त्र में कहा है कि तालू में जो स्तन की भाँति लटकने वाला मांस-पिण्ड है, वह इन्द्र योनि है। इन्द्र परमात्मा और जीवात्मा दोनों को कहा जाता है। हमारे मत में यहाँ पर इन्द्र का अभिप्राय जीवात्मा है। उपनिषद्कार ने यहाँ पर कहा है कि वह मनोमय है। अर्थात् वह मन से संयुक्त है। जिससे वह मनन करता है। जब मनुष्य मनन करता है कि कोई भला अथवा बुरा कार्य करने का विचार करे तो इसका अभिप्राय यही है कि वह परमात्मा नहीं, जीवात्मा ही करता है। इससे स्पष्ट है कि मनोमय जीवात्मा है, परमात्मा नहीं।

३. उस लटक रहे मांस-पिण्ड, जिसे साधारण भाषा में विभिन्न नामों से जाना-जाता है, उसका सम्बन्ध हृदयाकाश से नहीं है। उपनिषद् में भी यह उल्लेख नहीं है कि उसका हृदयाकाश से किसी प्रकार का सम्बन्ध है। इसे इन्द्र योनि कहा है। योनि का अर्थ है स्थान। यही अर्थ यहाँ हो सकता है। परन्तु अनेक भाष्यकारों ने योनि का अर्थ द्वार करके यह कह दिया है कि प्रयाणकाल में इस द्वार से परमात्मा बाहर निकलता है, जिस प्रकार बालक योनि द्वार से बाहर निकलता है। यह व्याख्या सर्वथा अशुद्ध है।

उस लटकने वाले मांस पिण्ड में न तो परमात्मा रहता है और न ही जीवात्मा। वह चेतन तत्त्व का स्थान नहीं है। और यदि परमात्मा को किसी स्थान से निकलने वाला मान लें तो यह मानना पड़ेगा कि वह वहाँ पहले नहीं था अपितु कहीं से निकलकर वहाँ आया है। इस प्रकार परमात्मा को सर्वव्यापक नहीं माना जा सकेगा। अतः इस प्रसंग में उस मांस पिण्ड का उल्लेख ही नहीं होना चाहिए था। क्योंकि उसका हृदय-आकाश से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

४. उपनिषद्कार का कथन है—“जहाँ केशों का अन्त होता है।” अन्त के भी दो अर्थ हैं। एक तो यह कि जहाँ सिर के बाल उगने बन्द होते हैं। ये दो स्थान हैं। एक माथा और दूसरी ग्रीवा। केशों के अन्त का यह भी अभिप्राय है कि मांस के नीचे खोपड़ी। जहाँ बालों की जड़ें हैं। हमारी दृष्टि में पहला अर्थ ही उपयुक्त है। जहाँ बाल उगने बन्द होते हैं। और वह भी माथे का स्थान है ग्रीवा का नहीं। यह माना जाता है कि माथे की हड्डी के पीछे भौहों के बीच मस्तिष्क में एक सर्वथा रिक्तस्थान है। उसे हृदयाकाश कहते हैं। उसमें ही मनोमय पुरुष (जीवात्मा) का निवास है। हृदयाकाश, जहाँ कपाल फूटता है, वहाँ नहीं है। जहाँ हड्डियाँ जुड़ती हैं उसको ब्रह्मरन्ध्र स्थान कहते हैं। ऐसी मान्यता है कि वहाँ से जीवात्मा बाहर निकलता है। परन्तु उपनिषद्कार ने कहा है कि तालू में स्तन समान लटकने वाला मांस पिण्ड ही द्वार है जहाँ से पुरुष बाहर निकलता है। यह सर्वथा अशुद्ध है।

वस्तुस्थिति यह है कि हृदयाकाश जिसे गुहा कहते हैं, इसमें जीवात्मा है, जो मन एवं बुद्धि से युक्त हुआ माना जाता है। वहाँ, उपनिषद्कार ने कहा है कि

ऊपर के मन्त्र में वर्णित अग्नि और वायु भी रहते हैं। अग्नि और वायु के विषय में हम पूर्व मन्त्र की विवेचना करते हुए बता चुके हैं कि ये परमात्मा की शक्तियाँ हैं। इस प्रकार स्थिति यह हुई कि माथे की हड्डी के पीछे गुहा नामके स्थान में जीवात्मा, मन बुद्धि से युक्त और परमात्मा की शक्तियाँ अग्नि और वायु के साथ रहता है।

सुवरित्यादित्ये । मह इति ब्रह्मणि । आप्नोति स्वाराज्यम् ।
 आप्नोति मनसस्पतिम् । वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः ।
 एतत्ततो भवति । आकाशशरीरं ब्रह्म । सत्यात्मप्राणारामं मन आनन्दम् ।
 शान्तिसमृद्धममृतम् । इति प्राचीनयोग्योपास्व ॥ १-६-२ ॥

अर्थ—सुवः आदित्य है। महः ब्रह्म है। इनमें रहता हुआ जीवात्मा स्वतन्त्रता (प्रकृति के बन्धन से युक्त मुक्ति) पा जाता है। मन का स्वामित्व पा जाता है। इससे वह वाणी, चक्षु, श्रोत्र व बुद्धि का स्वामी हो जाता है। (इस) स्वामी होने से भी बढ़कर हो सकता है। आकाशमय शरीर वाला ब्रह्म (महान्) सत्यस्वरूप आत्मा, मन से आनन्दित, शान्तियुक्त अमृत हो जाता है। इससे जीवात्मा प्राचीन योग (परमात्मा से संयोग) प्राप्त करे।

विवेचना—इस मन्त्र में 'प्राचीन योग्योपास्व' का कुछ भाष्यकारों ने अर्थ किया है—प्राचीन योग्य कोई ऋषि महाचमस्, का शिष्य है। इस प्रसंग में हमने महाचमस् का अर्थ किया है महत् चमसवत्। और यहाँ हम इस पद का अर्थ समझते हैं, प्राचीन योगयुक्त होकर उपासना करे। अर्थात् जीवात्मा परमात्मा से अपना प्राचीन संयोग प्राप्त करे।

आकाश शरीर का अर्थ है आकाशवत् शरीर वाला। अर्थात् सूक्ष्म शरीर वाला हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि उसके स्थूल शरीर का लेप नहीं रहता।

प्राणाराम का अर्थ है प्रणव में रमण करने वाला हो जाता है। प्राण परमात्मा का सूचक है।

जब आत्मा मस्तिष्क की गुहा में रहता हुआ ब्रह्म में लीन हो जाता है तो मन और इन्द्रियों का स्वामी बन जाता है। इसको ही उपनिषदकार ने स्वतन्त्रता प्राप्त करना कहा है।

सप्तम अनुवाक

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशाः । अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा
नक्षत्राणि । आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा । इत्यधिभूतम् ।
अथाध्यात्मम् । प्राणो व्यानोऽपान उदानः समानः । चक्षुः श्रोत्रं मनो
वाक् त्वक् । चर्म मांसं स्नावास्थि मज्जा । एतदधिविधाय
ऋषिरवोचत् । पाङ्क्तं वा इदम् सर्वम् । पाङ्क्तेनेव पाङ्क्तम्
स्पृणोतीति ॥ १-७-१ ॥

अर्थ—पृथिवी, द्यु लोक, दिशाओं और अवान्तर दिशाओं—
(इसका अभिप्राय है कि भूगोल और खगोल विद्या) का ज्ञान कराना
चाहिए । अग्नि, वायु, आदित्य और नक्षत्रों का ज्ञान कराना चाहिए ।
आपः, ओषधियाँ, वनस्पतियाँ, आकाश और आत्मा का ज्ञान कराना
चाहिए । ये अधिभूत श्रेणियों के पदार्थ हैं । अध्यात्म श्रेणी के पदार्थ हैं
प्राण, व्यान, अपान, उदान, और समान । इन वायुओं का ज्ञान कराना
चाहिए । चक्षुः, श्रोत्र, मन, वाणी त्वक् का ज्ञान कराना चाहिए । तथा
चर्म, मांस, स्नायु, अस्थि और मज्जा ये धातु श्रेणी के हैं । इनका ज्ञान
कराना चाहिए ।

ये सब मिलकर अध्यात्म श्रेणी के पदार्थ हैं । इस प्रकार पदार्थों
की श्रेणियों का वर्णन है । ये सब श्रेणियाँ सब पदार्थों का पूर्ण ज्ञान
कराती हैं ।

विवेचना—उपनिषद् की इस वल्ली में शिक्षा का प्रकरण ही चल रहा है ।
इस अनुवाक में पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक के पदार्थों को गिन कर बताया
गया है कि मनुष्य को इस प्रकार ये श्रेणीबद्ध शिक्षा दी जानी चाहिए । पृथिवी से
सूर्यपर्यन्त सब पदार्थों को पाँच श्रेणियों में बांटा गया है । पहली श्रेणी में भूगोल
तथा खगोल विद्या के पदार्थों की गणना की गई है । अग्नि और वायु का अर्थ हम
ऊपर बता कर आये हैं । ये परमात्मा की शक्ति के रूप हैं । आदित्य से अभिप्राय
सूर्य भी हो सकता है और वैश्वानर अग्नि भी । सूर्य की गणना नक्षत्रों में की गई
है । इसी प्रकार चन्द्रमा के अर्थ भी हम ऊपर बता चुके हैं । यह सोमरूप परमात्मा
है ।

ओषधियों का पृथक् उल्लेख किया गया है । इसका कारण यह है कि वनस्पतियों
में वन की उपज की गणना की जाती है और ओषधियों की गणना साग-भाजी
की भाँति खेत की उपज में की गई है ।

आकाश से यहाँ अभिप्राय पंच भौतिक आकाश है । उसका अभिप्राय यहाँ पर

व्योम नहीं है। और आकाश को एक भूत कहने से, शास्त्र-पद्धति से, पाँचों भूतों का अभिप्राय ग्रहण किया जाना चाहिए। आत्मा का अभिप्राय यहाँ पर स्वयं से है। अर्थात् मनुष्य से। ओषधियों और वनस्पतियों के वर्ग के साथ प्राणी का भी उल्लेख है। क्योंकि उसे अधिभूत कहा है, अतः आत्मा से अभिप्राय प्राणी के शरीर से ही हो सकता है। शरीरों से आत्मा शब्द का संयोग अशुद्ध है। आत्मा से अभिप्राय स्वयं से ही है।

इसके बाद अध्यात्म पदार्थों का वर्णन किया गया है। यदि आगे वर्णित पदार्थों को अध्यात्म शब्द से सम्बोधित किया गया है तो भूतों में आत्म शब्द अशुद्ध है। अध्यात्म के अन्तर्गत पाँच वायुओं की गणना की गई है। और इनमें चक्षु, श्रोत्र, मन, वायु और त्वक् कहा गया है और साथ ही त्वक् कहने के बाद चर्म का नाम ले लिया गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषद्कार लिखते-लिखते, अपनी ही धुन में बिना किसी प्रकार पूर्वापर विचार किये लिखता ही चला गया है। उसने इस बात का विचार ही नहीं किया कि कौन-सा पदार्थ किस श्रेणी के अन्तर्गत लिखा जाना चाहिए। इसी प्रकार उसने चर्म का उल्लेख एक बार त्वक् के साथ करके फिर चर्म शब्द का उल्लेख किया है। यदि त्वक् को त्वक् इन्द्रिय कहा जाय और चर्म को वह पदार्थ कहा जाये जिससे त्वक् इन्द्रिय है तो चर्म मांस के अन्तर्गत गिना जाना चाहिए। इस प्रकार यह धातु-वर्ग में गिना जायेगा।

ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषद्कार को सांख्य दर्शन में गिनाये गये गणों का ज्ञान नहीं था। सांख्य दर्शन में चेतन और अचेतन पदार्थों के गण (श्रेणियाँ) अधिक युक्तियुक्त रीति से गिनाई गई हैं। वहाँ जगत् के सब पदार्थों को पच्चीस गणों में विभाजित किया गया है। चौबीस गण तो प्रकृति के हैं और अध्यात्म आत्म-तत्त्व परमात्मा और जीवात्मा है। इस प्रकार सब पच्चीस गण हैं।

अष्टम अनुवाक

ओमिति ब्रह्म। ओमितीदम् सर्वम्। ओमित्येतदनुकृतिर्ह स्म वा
अग्न्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति। ओमिति सामानि गायन्ति। ओम् शोमिति।
शस्त्राणि शम् सन्ति। ओमित्यध्वयुः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति
ब्रह्मा प्रसूति। ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति। ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्य-
न्नाह ब्रह्मोपाप्नोति। ब्रह्मोपाप्नोति ॥ १-८-१ ॥

अर्थ—ओम् यह शब्द ब्रह्मसूचक है। ओम् ही सब कुछ है। ओम् ही अनुकृति अनुकरण करने योग्य अर्थात् अनुमन्ता (सम्मति देने-वाला) है। गुरु जब कहें सुनाओ और शिष्य सुनावें तो ओं शब्द से ही आरम्भ किया जाता है। सामवेद की ऋचायें गाई जायें तो ओम् से ही आरम्भ करना चाहिए। ओं शोम (शम-इति शास्त्र की समाप्ति के समय) कहना चाहिए। अध्वर्यु ओं कहकर मन्त्र का पाठ करता है। ब्रह्म अर्थात् यज्ञ का अध्वक्ष, ओं कहकर ही मन्त्रोच्चारण की आज्ञा देता है। अग्निहोत्र के लिए भी ओम् कहकर ही आज्ञा देता है। वेदाध्ययन करनेवाला ब्राह्मण ओं कहकर कहता है कि मैं ब्रह्म को प्राप्त करूँ (वेद को जान जाऊँ)। वह ब्रह्म (अर्थात् वेद) को जान जाता है।

विवेचना—वेद-शास्त्रों में ओम् शब्द के उच्चारण अथवा मनन करने की बहुत महिमा का गान किया गया है। यहाँ पर उपनिषद्कार का भी यही अभिप्राय है। वह भी ओं की महिमा का गान कर रहा है। वह क्यों यह महिमा गानकर रहा है, इसका कारण भी उपनिषद्कार ने स्पष्ट कर दिया है। वह यह कि ओं परमात्मा का नाम है, ओं ब्रह्म है।

वेद आस्तिकवाद का विज्ञान है। अर्थात् इस संसार के रचयिता को वेद सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, शुद्ध, बुद्ध, सर्वशक्तिमान्, अनादि, अनन्त, चेतन, आत्म तत्त्व मानता है। वह दयालु, न्यायकर्ता और ज्ञान देने वाला माना जाता है।

(यजुः ४०-८।)

इस कारण उपनिषद्कार वेद मतानुयायी होने के कारण अपने सब कामों में उसकी महिमा मानता हुआ उसको स्मरण करने की बात कह रहा है।

परमात्मा के गुणों के अनुरूप अनेक नाम हैं। परन्तु यह माना गया है कि उसका 'ओं' नाम सर्वश्रेष्ठ और सब गुणों का प्रतीक है। इस कारण परमात्मा को स्मरण करने के लिए यह नाम सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

नवम अनुवाक

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च।

प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यमिति सत्यवचा राशीतरः । तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः । स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः । तद्धि तपस्तद्धि तपः ॥ १-६-१ ॥

अर्थ—ऋतों के विषय में स्वाध्याय करें और उनका उपदेश करें । सत्य का स्वाध्याय करें और उसका उपदेश करें । तप के विषय में स्वाध्याय करें और उसका उपदेश करें । अग्नि के विषय में स्वाध्याय करें और उसका उपदेश करें । अग्निहोत्र के विषय का स्वाध्याय करें और उसका उपदेश करें । अतिथि सेवा तथा मनुष्य सेवा करें और उसका उपदेश करें । प्रजा पालन के विषय में स्वाध्याय करें और उसका उपदेश करें । सन्तानोत्पत्ति के विषय का स्वाध्याय करें और उसका उपदेश करें । प्रजा अर्थात् सन्तान पालन के विषय में स्वाध्याय करें और उसका उपदेश करें । सत्य ही पालन योग्य है । ऐसा रशीतर के पुत्र सत्यवचा का कथन है । तप का अनुष्ठान करने को है । ऐसा पौरुशिष्टि का मत है । स्वाध्याय और उपदेश ही कर्तव्य है । ऐसा मुद्गल के पुत्र नाक का मत है । वही तप है, वही तप है ।

विवेचना—यह संसार जिन नियमों के अन्तर्गत परिचालित है, उनको 'ऋत' कहते हैं । जगत् के अन्तर्गत स्थावर और जंगम दोनों प्रकार की सृष्टि समझी जानी चाहिए । इनके संचालन के नियमों को ही ऋत कहा जाता है । इनको प्राकृतिक नियम भी कहते हैं ।

स्मृतिकारों ने सत्य की यह व्याख्या की है कि जो जैसा है उसको वैसा ही मन, वचन, कर्म से प्रकट करना सत्य है । उपनिषदकार इस जगत् को सत्य मानते हैं । विचार करने पर दोनों का एक ही अर्थ निकलता है । उसका कारण यह है कि मनुष्य देखता, सुनता, सूँघता, चलता और स्पर्श आदि करता है; उससे वह जानता है, जो जगत् में है, वह सब कुछ ही अर्थात् जगत् सत्य है ।

तप का अभिप्राय है कि किसी कार्य को जानने अथवा करने के लिए सतत प्रयत्न करना ।

मन कामना करता है और इन्द्रियाँ उन कामनाओं का भोग करती हैं । इस कारण मन की कामनाओं पर नियन्त्रण ही इन्द्रियों का संयम होता है । इस कारण मन को इधर-उधर भटकने से रोकने को संयम कहते हैं ।

शम से अभिप्राय है मन और बुद्धि की शान्ति । जब परिस्थिति प्रतिकूल हो तब भी शान्त रहना शम कहलाता है ।

अग्नि के स्वाध्याय से अभिप्राय है कि अग्नि की विद्या को जानना । यह

भौतिकी विद्या का अंग है। इसमें अग्नि का शरीर के लिए अथवा कर्म के लिए प्रयोग का अभिप्राय है।

अग्निहोत्र का सामान्य अर्थ है देव-यज्ञ अर्थात् हवन करना। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इसका अभिप्राय होगा अग्नि का उद्योग-घन्धों में प्रयोग करना।

अतिथि उस अभ्यागत को कहते हैं जो बिना किसी सूचना के आये और उपदेश (शिक्षा) करना जिसका उद्देश्य हो। ऐसे अभ्यागत का आदर सत्कार करना भी मनुष्य का कर्म माना गया है।

मनुष्य के विषय में भी स्वाध्याय और उसका उपदेश करने की बात कही गई है। मनुष्य के विषय से यहाँ पर अभिप्राय है मानव-समाज की सेवा। अंग्रेजी में जिसको सोशयोलौजी कहा जाता है। मनुष्य ही सामाजिक प्राणी है, पशुओं का कोई समाज नहीं बनता। एकत्रित पशु-समूह को समाज नहीं अपितु झुण्ड कहा जाता है।

प्रज्ञा उत्पन्न करना भी एक विद्या है। इसे अंग्रेजी में 'युजेनिक्स' कहते हैं।

सन्तान पालन का विषय प्रजा उत्पन्न करने से सर्वथा पृथक् है। इस कारण सन्तान पालन के विषय में स्वाध्याय कर उसके उपदेश के लिए कहा गया है।

सत, तप और स्वाध्याय के लिए कहा है। इसकी महिमा को रथीतर के पुत्र सत्यवचा के नाम पर, पीरुशिष्ट तथा मुद्गल-पुत्र नाक के नाम पर कहा गया है।

दशम अनुवाक

अहं वृक्षस्य रेरिवा । कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव । ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव
स्वमृतमस्मि । द्रविणम् सुर्वचसम् । सुमेधा अमृतोक्षितः । इति त्रिशंको-
वैदानुवचनम् ॥१-१०-१॥

अर्थ—मैं वृक्ष (शरीर जो प्रकृति का बना है) का प्रेरक हूँ (शिक्षा देकर शरीर को सन्मार्ग पर लाने वाला हूँ)। मेरी कीर्ति पवित्र शिखर समान ऊँची है। सूर्य समान मैं पवित्र अन्नमय और ऊँचा हूँ (विख्यात हूँ)। धन की शक्ति से सम्पन्न हूँ। मेरी मेधा (बुद्धि) अक्षय और अमर है। यह त्रिशंकु ऋषि का वेद के अनुसार वचन है।

विवेचना—शिक्षित शिष्य शिक्षा समाप्त करने पर अपने विषय में यह वर्णन कर रहा है। नवम् अनुवाक में वर्णित विषयों का ज्ञान और अभ्यास प्राप्त कर

तथा उपदेश करता हुआ शिष्य ऐसा अनुभव करता है जैसा इस मन्त्र में वर्णन किया गया है।

एकादश अनुवाक

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति । सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः । आचार्याय प्रियं धनमाहुत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः । सत्यान्त प्रमदितव्यम् । धर्मान्ति प्रमदितव्यम् । कुशलान्ति प्रमदितव्यम् । भूत्यै न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्याम् न प्रमदितव्यम् । देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥१-११-१॥

अर्थ—आचार्य ने वेदाध्ययन करने के उपरान्त गुरुकुल के वास के अन्त में यह उपदेश दिया—सत्य बोलो। धर्म पर आचरण करो। स्वाध्याय में आलस्य मत करो। आचार्य के लिए उचित धन लाकर (दक्षिणा के रूप में) देने के उपरान्त सन्तानसूत्र का उच्छेद न होने दो। अर्थात् विवाह कर सन्तान उत्पन्न करो। सत्य के आचरण में प्रमाद नहीं करना चाहिए। धर्माचरण में प्रमाद नहीं करना चाहिए। कुशल कर्म (वह कर्म जिससे कुशल क्षेम हो) में कभी आलस्य नहीं करना चाहिए। ऐश्वर्य लानेवाले मंगलादि कर्मों में आलस्य नहीं करना चाहिए। स्वाध्याय और उपदेश देने में आलस्य नहीं करना चाहिए। देव कर्मों तथा पितृ कर्मों में आलस्य नहीं करना चाहिए।

मातृदेवो भव । पितृ देवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्यानि कर्माणि । तानि सेवितव्यानि । नो इतराणि । यान्यस्माकं सुचरितानि । तानि त्वयोपास्यानि ॥१-११-२॥

अर्थ—देव माता है। देव पिता है। देव आचार्य है। देव अतिथि है। जो अन्य उत्तम कर्म हैं उनका सेवन करना चाहिए। दूसरे कर्म नहीं करने चाहिए। हमारे जो (भले लोगों के) श्रेष्ठ आचरण हैं उनका पालन होता चाहिए। उनकी ही उपासना करनी चाहिए।

नो इतराणि । ये के चास्मच्छ्रेयाँ सो ब्राह्मणाः । तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम् । श्रद्धया देयम् । अश्रद्धयाऽदेयम् । श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् । भिया देयम् । संविदा देयम् । अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ॥१-११-३॥

अर्थ—उपरि वर्णित कर्मों के अतिरिक्त कर्म न करें । जो हमसे भी श्रेष्ठ हैं उन ब्राह्मणों (विद्वानों) को आसन देकर बैठाना चाहिए और आदर करना चाहिए । उनको श्रद्धापूर्वक दान देना चाहिए । अश्रद्धा से नहीं । अपनी सामर्थ्यानुसार देना चाहिए । लोक-लाज से देना चाहिए । परलोक के भय से देना चाहिए । अपने ज्ञान से देना चाहिए । और यदि उनके कर्म के विद्वान् अथवा व्यवहार के विद्वान् होने में सन्देह हो तो...

ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तत्र वर्तेरन् । तथा तत्र वर्तेथाः । अथाभ्याख्यातेषु । ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तेषु वर्तेरन् । तथा तेषु वर्तेथाः । एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ॥१-११-४॥

अर्थ—वहाँ जो विद्वान् हो उससे सम्मति कर लो । जो इसके लिए नियुक्त है, उससे पूछ लो । जो सरल चित्त और धर्मपरायण हो, जैसा वह आचरण करे वैसा करो । जैसा वह वर्तव्य करे, वैसा व्यवहार करो । ऐसा ही आदेश है । यही वेद का रहस्य है । यही अनुशासन है । यही उपासना है । ऐसा ही तुम्हें करना चाहिए ।

द्वादश अनुवाक

ओं शं नो मित्रः शं वरुणः । शं नो भवत्वयमा । शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । शं नो विष्णुरुक्मः । नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वेमव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम् । ऋतमवादिषम् ।

सत्यमवादिषम् । तन्मामावीत् । तद्वक्तारमावीत् । आवीन्माम् ।
आवीद्वक्तारम् । ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!! ॥१-१२-१॥

अर्थ—मित्र, वरुण और अर्यमा हमारा कल्याण करें । इन्द्र और
बृहस्पति हमारा कल्याण करें । महा (पराक्रमी) विष्णु हमारा कल्याण
करें ।

ब्रह्मा (परमात्मा को) हमारा नमस्कार है । वायु (परमात्मा की
शक्ति) को हमारा नमस्कार है । तुम (वायु) ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हो । तुमको
हमने प्रत्यक्ष ब्रह्म कहा है । तुमको ही ऋत कहा है । तुमको ही सत्य
कहा है । तुमने ही मेरी रक्षा की है । मेरी रक्षा की है और वक्ता (इस
उपनिषद् के कहने वाले) की भी रक्षा की है ।

शिक्षा वल्लि का सारांश

शरीर, मन, बुद्धि और जीवात्मा को प्रेरणा देकर उसे उचित कार्य पर करने
का अभ्यास कराना ही शिक्षा है । इनमें से किसी एक की भी शिक्षा यदि छूट जाय
तो शिक्षा का उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकता । इन सब अंगों की समुचित शिक्षा होने
पर ही गृहस्थ धर्म का भलीभाँति पालन हो सकता है । गृहस्थ पालन शिक्षा का
मुख्य उद्देश्य होते हुए भी यह जीवन का अन्तिम ध्येय नहीं है । मनुष्य जीवन का
अन्तिम ध्येय इस प्रकृति के बन्धन से छूटकर ब्रह्म में लीन होना है । इस अन्तिम
ध्येय के विषय में आगामी वल्लियों में वर्णन किया गया है । यहाँ यह बताया गया
है कि शिक्षा का ध्येय गृहस्थ धर्म का भलीभाँति पालन करते हुए अन्तिम लक्ष्य
की ओर अग्रसर होने का प्रथम पड़ाव है ।

ऋषि शिक्षा का आरम्भ भाषा ज्ञान से कराता है । सर्वप्रथम वर्णों के रूप को
समझकर उनको स्मरण करने की बात कही गई है । वर्णों के रूप को भलीभाँति
पहचानना चाहिए । तदनन्तर उनके उच्चारण को सीखना आवश्यक है । इसके
अनन्तर वर्णों के स्वरो से संयोग और उनके उच्चारण को समझना और सीखना
आवश्यक है । इतना ज्ञान भलीभाँति प्राप्त कर लेने पर वर्णों की सन्तान अर्थात्
शब्द और वाक्यों का बनाना और उनका लिखना आना आवश्यक है ।

इतने तक तो केवल मन और शरीर की ही शिक्षा के विषय में कहा गया है ।
इसके अनन्तर मन और शरीर के कार्य के साथ-साथ बुद्धि का सहयोग भी होने

लगता है। शरीर कर्म है। यहाँ कर्म है वर्णों के रूप को पहचानना, उनको उच्चारण करना और फिर स्मरण करना। तदनन्तर वर्णों के सहयोग से शब्दों को बनाना और फिर वाक्यों का संगठन करना। ये सब कुछ शरीर, इन्द्रिय और मन का कार्य है। मन स्मृति यन्त्र का कार्य करता है।

जब इसमें बुद्धि का भी समावेश हो जाता है तो फिर अर्थयुक्त वाक्य लिखने, उनको पढ़ने और पढ़कर समझने के उपरान्त उनपर विचार करना होता है। इस प्रकार भाषा का ज्ञान पूर्ण होता है। भाषा का ज्ञान पूर्ण होने के साथ ही बुद्धि का कार्य आरम्भ हो जाता है।

इन्द्रियों ने देखा, सुना और अनुभव किया, मन ने उसको स्मृतिपटल पर स्थिर रखा, बुद्धि ने उस लिखे-पढ़े और स्मरण किये हुए का अर्थ निष्पन्न किया। इससे शिक्षा का ध्येय अर्थात् ज्ञान की उपलब्धि आरम्भ हो जाती है।

जो कुछ पढ़-लिख कर ज्ञानार्जन किया है उस पर विचार करना बुद्धि का मुख्य कार्य है। मन उस विचार को भी स्मरण रखने का कार्य करता है। उसी स्मृति के आधार पर ही बुद्धि आगे भी कार्य करती है, विचार करती है। इस प्रकार शिक्षा चलती है।

ज्ञातव्य बातों में ऋषि सबसे पहले व्याहृतियों का वर्णन करता है। व्याहृति का अभिप्राय है कथनीय विषय। जो कथनीय है वही स्मरणीय है। यहाँ पर ऋषि ने चार ही कथनीय विषयों का वर्णन किया है। वे हैं, भूः, भुवः, स्वः और महः। इन चारों के भी चार-चार पृथक् रूप ऋषि ने वर्णन किये हैं, जो इस प्रकार हैं—

व्याहृतियाँ	प्रथम रूप	द्वितीय रूप	तृतीय रूप	चतुर्थ रूप
	स्थान	शक्ति	ज्ञान	कर्म करने का सामर्थ्य।
भूः	पृथिवी	अग्नि	ऋग्वेद	प्राण
भुवः	अन्तरिक्ष	वायु	सामवेद	अपान
स्वः	द्युलोक	वैश्वानर (आदित्य)	यजुः	व्यान
महः	ब्रह्मलोक	चन्द्रमा (सोम)	ब्रह्म	समान

इन व्याहृतियों के सम्बन्ध में हमने अपना मत व्यक्त किया है कि ये सात हैं। अर्थात् हम समझते हैं कि कथनीय विषय सात हैं। वे हैं—भूः, भुवः, सुवः, महः, जनः, तपः, सत्यम्।

जनः का अभिप्राय पृथिवी अथवा अन्य नक्षत्रों पर बसे हुए प्राणी की सृष्टि से है।

तपः का अभिप्राय है वह कर्म, जो किसी की प्राप्ति के लिए सतत किया जाता है।

सत्यम् का अभिप्राय है कार्य जगत् और इसका रचयिता।

हम समझते हैं कि इन तीन व्याहृतियों के वर्णन के बिना शिक्षा पूर्ण नहीं समझी जा सकती है। इन सबका आदि मूल परमात्मा है। परमात्मा की रची सृष्टि अधिभूत कहलाती है। इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि अधिदेव कहलाती हैं और आत्म तत्त्वों का ज्ञान अध्यात्म कहलाता है।

अधिभूत जड़ पदार्थ हैं। अधिदेव वे पदार्थ हैं जिनमें प्राण कार्य करते हैं और अध्यात्म से अभिप्राय है जीवात्मा और परमात्मा।

ओम् परमात्मा का सर्वश्रेष्ठ नाम है। वेदमन्त्रों के पठन-पाठन अथवा गान के आरम्भ में इसके उच्चारण का अभिप्राय है अपने कार्य को ईश्वरार्पण करना।

परमात्मा ने सृष्टि की रचना और इसका प्रचलन स्थिर नियमों के आधार पर किया है। उन नियमों को 'ऋत' कहते हैं। ऋत स्थिर ईश्वरीय नियम हैं। वे अपरिवर्तनशील हैं। ऋतों का ज्ञान भी शिक्षा का अंग ही है।

अन्त में उपनिषदकार कहता है कि तप और स्वाध्याय से ही जीवन में सफलता मिलती है।

दीक्षा के अन्त में आचार्य शिष्य से कहता है कि वह विवाह कर सन्तान उत्पन्न करे और माता, पिता, आचार्य तथा अतिथि की सेवा करे। वे ही देव अर्थात् परमात्मा स्वरूप हैं। स्वाध्याय और तप जीवात्मा का कर्तव्य है।

ब्रह्मानन्द वल्ली

प्रथम अनुवाक

शान्ति पाठ

ओम् सह नावतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै । ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

अर्थ—हे परमात्मा ! हम (आचार्य और शिष्य) दोनों की साथ-साथ रक्षा करो । हम दोनों का साथ-साथ पालन करो । हम दोनों का बल साथ-साथ कार्य करे । हमारा अध्ययन किया हुआ तेजस्वी हो । हम कभी भी विरोध न करें ।

ब्रह्मविदाप्नोति परम् । तदेषाऽभ्युक्ता । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । यो वेद निहितं गुहायां परमं व्योमन् । सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति ।

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । आकाशाद्वायुः । वायो-रग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या ओषधयः । ओषधीभ्यो-ऽन्नम् । अन्नात्पुरुषः । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः ।

तस्येदमेव शिरः । अयं दक्षिणः पक्षः । अयमुत्तरः पक्षः । अयमात्मा । इदं पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष इलोको भवति ॥ २-१-१ ॥

अर्थ—ब्रह्म को जाननेवाला परम को भी जान जाता है । (उसके विषय में ही यह मन्त्र है ।) ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त है । गुहा में महान् आकाश (अवकाश व्योम) में स्थित जो (उसे) जानता है वह सब कामनाओं का भोग करता है और साथ ही ब्रह्म को जान लेता (देख लेता) है ।

उस और इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश में वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधियाँ, ओषधियों से अन्न और अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ। पुरुष अन्न और रसमय ही है। उसका यह शिर है। यह दक्षिण पहलू है और यह वाम पहलू है। यह आत्मा है। मध्य भाग है। और यह पुच्छ। नीचे का भाग प्रतिष्ठित है।

यह व्याख्या इसके विषय में ही है।

विवेचना—इस मन्त्र में कुछ ऐसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं जिनके सामान्य भाषा के अर्थ यहाँ उपयुक्त नहीं बैठते। इनमें प्रथम शब्द है परम्। परम् का अर्थ है बहुत बड़ा। अधिकांशतया यह बहुत बड़ी वस्तु के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है। किन्तु यहाँ यह विशेषण के रूप में नहीं है। यहाँ यह अर्थ बनता है—जो ब्रह्म को जानता है वह परम् को जान जाता है। अर्थात् ब्रह्म और परम् दोनों भिन्न-भिन्न हैं। अर्थात् पहले को जाननेवाला दूसरे को भी जान जाता है।

गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित उपनिषद् के अनुवादक ने इसका अर्थ परमात्मा किया है। वह इसका अर्थ करता है—ब्रह्मवेत्ता परमात्मा को भी प्राप्त कर लेता है। मानो ब्रह्म को जानना परमात्मा को पाना नहीं होता और वह यत्न करने से परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

हम परम का अर्थ कार्य-जगत् करते हैं। इसी मन्त्र में आगे चलकर लिखा है कि उस और इस आत्मा से शिर, दायाँ, बायाँ पहलू और पुच्छ उत्पन्न हुए। शरीर के ये अंग प्रकृति द्वारा बनाये जाते हैं और उसके द्वारा बनाया हुआ यह जगत् है जिसमें कि शरीर बनता है। उस और इस शब्दों के पृथक्-पृथक् प्रयोग से यह प्रकट है कि यहाँ दो का वर्णन किया गया है। उसमें एक प्रकृति है और दूसरा परमात्मा।

दूसरा शब्द है आत्मा। इस मन्त्र में उल्लेख है—तस्माद्वा एतस्मादात्मन। अर्थात् उस और इस आत्मा से आकाश, वायु इत्यादि पंचभूत उत्पन्न हुए। पंचभूत प्रकृति की सन्तान हैं। (सांख्य दर्शन १-६१) जैसे ऊपर कहे 'परम्' का अर्थ जगत् है। उसका अर्थ प्रकृति है और इस आत्मा का अर्थ परमात्मा है।

तीसरा शब्द है पुच्छ। सामान्य रूप से यह शब्द सरल है। परन्तु यहाँ पर पुच्छ से अभिप्राय है शरीर का नीचे का भाग, टाँगें पाँव इत्यादि।

अन्य उपनिषदों में 'श्लोक' से अभिप्राय उपनिषद् से बाहर का कोई उद्धरण होता है। यहाँ 'श्लोक' का अर्थ कथन है।

इतना समझ में आने के उपरान्त ही इस मन्त्र के अर्थ ठीक प्रकार से लगाये जा सकते हैं। इस मन्त्र का यह अभिप्राय है कि जो व्यक्ति परमात्मा को जान लेता है, वह इस पूर्ण जगत् को भी जान लेता है। ब्रह्म सत्य है, ज्ञानमय है और महान्तम

है। जो आत्मा यह जान लेता है कि शरीर के मस्तिष्क में एक गुहा है और परमात्मा अर्थात् ब्रह्म वहाँ पर है और उससे युक्त हो जाता है, वह परमात्मा के सहाय से सब कामनाएँ पूरी कर लेता है। यहाँ पर शब्द है 'परमं व्योमन्।' व्योम का अर्थ है खाली स्थान। वह स्थान जहाँ अभी तक रचना कार्य नहीं हुआ है। अंग्रेजी में इसे 'स्पेस' कहते हैं। ऐसी मान्यता है कि माथे की हड्डी के पीछे मस्तिष्क में, भौहों के मध्य में एक बहुत छोटा-सा स्थान गुहा है जिसे दहर भी कहते हैं। वहाँ जीवात्मा, मन, बुद्धि और परमात्मा (सर्वव्यापक होने के कारण) चारों ही विद्यमान रहते हैं। यदि जीवात्मा यत्न करे तो परमात्मा से युक्त हो जाता है। वह पूर्ण-काम हो जाता है।

इसी मन्त्र में आगे कहा है कि इस आत्मा से पंचभूत, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी उत्पन्न होते हैं और इन पंचभूतों से शरीर बनता है।

हम इस प्रसंग में एक बात लिख देना उपयुक्त समझते हैं। यह आधुनिक विज्ञान के ज्ञान से सिद्ध होती है। किन्तु अन्य भाष्यकारों के कथन से सर्वथा भिन्न है। यह पृथिवी इत्यादि पंचभूतों के सम्बन्ध में है।

पृथिवी, जल इत्यादि से हम वे अर्थ ग्रहण नहीं करते जो सामान्य भाषा से ग्रहण किये जाते हैं। पृथिवी से हम पार्थिव पदार्थ (solid) समझते हैं। जल से हम जलीय पदार्थ (liquids) समझते हैं। वायु से वायवीय (gaseous) पदार्थों का अर्थ ग्रहण करते हैं। अग्नि से आग्नेय अर्थात् वे पदार्थ जो निरन्तर अग्नि उगलते रहते हैं, ऐसा अर्थ ग्रहण करते हैं। इसको वर्तमान वैज्ञानिक भाषा में 'रेडियो ऐक्टिव' पदार्थ कहते हैं। और आकाश से हम उन पदार्थों को समझते हैं जिनके परिमण्डल (atoms) अपने पर किसी प्रकार का आवेश (charge) नहीं रखते। इससे पृथिवी का गुण गन्ध है और जल का गुण रस आदि है। यह बात हम गलत मानते हैं।^१

प्रस्तुत मन्त्र में शब्द हैं—'अयमुत्तरः पक्षः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा।' इस वाक्य में आत्मा का अभिप्राय यह शरीर है। यह इस कारण कि आत्मा का दायौ, बायाँ और पुच्छ इत्यादि नहीं होते। न ही आत्मा से पंचभूत पृथिवी आदि उत्पन्न होते हैं।

(इस विषय में विपद् व्याख्या के लिए देखें लेखक का 'व्याय दर्शन सरल सुबोध भाषा भाष्य')

द्वितीय अनुवाक

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते । याः काश्च पृथिवी ३ भिताः । अथो
अन्नेनैव जीवन्ति । अथैनदपि यन्त्यन्ततः । अन्नं ३ हि भूतानां ज्येष्ठम् ।
तस्मात्सर्वौषधमुच्यते । सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति येऽन्नं ब्रह्मोपासते । अन्नं
हि भूतानां ज्येष्ठम् । तस्मात्सर्वौषधमुच्यते । अन्नाद्भूतानि जायन्ते ।
जातान्यन्नेन वर्धन्ते । अद्यतेऽस्ति च भूतानि । तस्मादन्नं तदुच्यत इति ।
तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः । तेनैव
पूर्णः । स चा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः ।
तस्य प्राण एव शिरः । व्यानो दक्षिणः पक्षः । अपान उत्तरः पक्षः ।
आकाश आत्मा । पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति

॥ (२-२-१) ॥

अर्थ—अन्न से सृष्टि उत्पन्न होती है । सृष्टि से अभिप्राय है जो
कुछ भी पृथिवी के आश्रय है और अन्न से उत्पन्न होता है । और अन्न
जीवित रखता है और अन्न में उसी में लीन हो जाता है । अन्न भूतों
(प्राणियों) में ज्येष्ठ (पहले उत्पन्न) है । उससे ही सब वनस्पतियाँ
उत्पन्न होती हैं । अन्न से ही सब प्राणी उत्पन्न होते हैं और उससे ही
वृद्धि पाते हैं । अन्न खाकर प्राणी बढ़ते हैं और अन्न ही सबको समाप्त
कर देता है । इस कारण इसे अन्न ही कहते हैं ।

उससे अथवा उस अन्नमय से उसके भीतर साररूप आत्मा
प्राणमय है । उस अन्न से यह पूर्ण होता है । वह अथवा यह (अन्नमय
अथवा प्राणमय) पुरुष की भाँति ही है । प्राण का सिर सत्य है । दायीं
व्यान है और बायीं अपान है । आकाश आत्मा है, पृथिवी पुच्छ में
प्रतिष्ठित है । उस (प्राण पुरुष) का ही यह वर्णन है ।

विवेचना—इस मन्त्र में यह बताया गया है कि जो अन्नमय शरीर है वह
अन्न से ही बनता है । पृथिवी पर के सब भूतों प्राणियों के शरीर अन्न से ही बने
होते हैं । वे अन्न से ही पलते और वृद्धि पाते हैं । जो ऐसा जानता है वह ब्रह्म हमको
जानता है । इसका अभिप्राय यह है कि अन्न शरीर है । यह ऊपर के मन्त्र में
बताया जा चुका है कि अन्न कैसे उत्पन्न होता है । वहाँ यह भी बताया जा चुका
है कि पंच महाभूत ब्रह्म से कैसे उत्पन्न होते हैं । उपनिषद्कार प्रकृति को भी ब्रह्म
ही कहता है । तीन ब्रह्म माने जाते हैं । प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा । अन्न में
दो अंश होते हैं । एक प्रकृति का और दूसरा प्राण का (वह परमात्मा का अंश है) ।
शरीर इन दोनों का संयोग है ।

अब इस मन्त्र में कहा है कि क्योंकि शरीर अन्न का बना है और अन्न से ही वृद्धि पाता है, इस कारण शरीर भी ब्रह्म है। अन्न शरीर को बनाता है और शरीर को खाता भी है। इसका अभिप्राय यह है कि अन्न को पचाते हुए शरीर में टूट-फूट भी होती है।

इस अन्नमय शरीर के भीतर प्राणमय शरीर है। क्योंकि प्राण शरीर को चेतना प्रदान करता है और चेतना पूर्ण शरीर में विद्यमान है। इस कारण यह कहा गया है कि प्राणमय शरीर भी उसी रूप का है जिसका अन्नमय है शरीर है। इस प्राणमय शरीर का भी दायाँ, बायाँ, मध्य और नीचे का भाग होता है जैसेकि अन्नमय शरीर का होता है।

पुच्छ और दायाँ तथा बायाँ का अभिप्राय भी वही है जो अन्नमय शरीर में बताया गया है।

तृतीय अनुवाक

प्राणं देवा अनु प्राणन्ति । मनुष्याः पशवश्च ये । प्राणो हि भूतानामायुः । तस्मात्सर्वायुषमुच्यते । सर्वमेव त आयुर्यन्ति ये । प्राणं ब्रह्मोपासते । प्राणो हि भूतानामायुः । तस्मात्सर्वायुषमुच्यत इति । तस्यैष एव शरीर आत्मा । यः पूर्वस्य ।

तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः । तस्य यजुरेव शिरः । ऋग्दक्षिणः पक्षः । सामोत्तरः पक्षः । आदेश आत्मा । अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति

॥ तैत्ति० २-३-१ ॥

अर्थ—देवता (इन्द्रियाँ) प्राण के अधीन होकर प्राण (जीवन) क्रिया करते हैं। ये (क्रियायें) मनुष्य और पशु में समान हैं। प्राण प्राणियों की आयु है। इस कारण वह 'आयुष' कहलाता है। जो प्राण को ब्रह्म समझ कर (उपासना) ज्ञान प्राप्त करते हैं वे पूर्ण आयु को प्राप्त होते हैं। प्राण ही प्राणियों की आयु है। इसलिए वह सर्वायुष कहाता है। जो पूर्व में अन्न कोष कहा है, उसका यही आत्मा है।

उसके ही भीतर रहने वाला आत्मा मनोमय है। उस (प्राणमय कोष) से यह मनोमय कोष भरा हुआ है। यह (मनोमय कोष) भी

पुरुषाकार ही है। उस (प्राणमय कोष) के पुरुषाकार होने से ही (उससे ही) यह भी पुरुषाकार है। यजुः ही इसका सिर है। ऋक् दक्षिण पक्ष है और साम उत्तर पक्ष है, आदेश आत्मा है तथा अथर्व आगिरस पुच्छ है। उसके विषय में ही यह मन्त्र है।

विवेचना— कहा है कि मनुष्यों और पशुओं में प्राण समानरूप से कार्य करते हैं। इस कथन से हमारा इतना मतभेद है कि यह न तो मनुष्यों और पशुओं में एक समान हैं और न ही सब मनुष्यों में समान हैं। यह सब प्राणियों में पाया जाता है परन्तु समान अर्थात् बराबर नहीं है। प्राण की मात्रा और इसकी श्रेष्ठता सबमें समान नहीं है। इसी कारण प्राण को परमात्मा नहीं परमात्मा की शक्ति कहा है। वह शक्ति जीवात्मा को कर्मफल में मिलती है।

कहा गया है कि देवगण प्राण के आश्रय ही कार्य करते हैं। देवगण से अभिप्राय इन्द्रियाँ हैं। सब इन्द्रियाँ प्राण की ही सहायता से कार्य करती हैं। परन्तु पूर्ण रसमय शरीर प्राणमय नहीं है। उदाहरण के रूप में अस्थियाँ वैसी ही प्राणमय नहीं हैं, जैसे आँख और कान हैं। त्वचा तो प्राणमय है परन्तु त्वचा के नीचे मांस त्वचा के समान प्राणमय नहीं है। प्राण शक्ति है जो गति उत्पन्न करती है। जिन-जिन अंगों में गति नहीं होती वे प्राणवान् नहीं हैं।

इस मन्त्र में मनोमय कोष के विषय में भी लिखा है। यह कहा है कि मनोमय प्राणमय कोष के समान ही सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। इस विषय में भी हमारा मतभेद है।

अन्न, रसमय कोष और प्राणमय कोष की भाँति मन पूर्ण शरीर में व्याप्त नहीं होता। मन का सम्बन्ध इन्द्रियों के साथ है। परन्तु शरीर के अनेक अंग ऐसे हैं जो मन से सम्बन्धित नहीं हैं। उदाहरण के रूप में अस्थियाँ मन से सम्बन्धित नहीं हैं। इस कारण जहाँ तक तो इन्द्रियों का प्रभाव है वहाँ तक तो मन है। सबसे विशेष बात जो विचारणीय है वह यह है कि क्या मन उन अंगों से भी सम्बन्धित है जो श्रेष्ठप्राण के अधीन कार्य करते हैं? उदाहरण के रूप में हृदय उदान प्राण से कार्य करता है। मन को न तो उसकी गति का ज्ञान होता है, न ही उस पर मन का आधिपत्य है। इसी प्रकार आँतों में अपान प्राण कार्य करता है। इसपर भी मन का आधिपत्य नहीं है। सुषुप्तावस्था में मन भी सो जाता है, वह कार्य नहीं करता, किन्तु प्राण उस अवस्था में भी कार्यरत रहते हैं।

इस सबको दृष्टि में रखते हुए हमारा मत है कि मनोमय कोष का आधिपत्य उतना विस्तृत नहीं है जितना प्राण और अन्नमय कोषों का है।

यह भी लिखा है कि मनोमय कोष का सिर यजुः है, उसका दक्षिण पक्ष ऋक् है, उत्तर पक्ष साम है। इसका उल्लेख केवल सभी कोषों में समानता दिखलाने के

उद्देश्य से किया गया है। वास्तव में यजुः साम आदि से मन का कोई सम्बन्ध नहीं है।

मन के विषय में स्वामी शंकराचार्य भी लिखते हैं : एवं च मनोवृत्तिर्वे मन्त्राणां वृत्तिरेवावर्त्यत इति मानसो जप उपपद्यते। अन्यथाविषयत्वान्मन्त्रो नावर्तयितुं शक्यो घटादिवदिति मानसो जपो नोपपद्यते।

इसका अर्थ है — इस प्रकार मन्त्रों के मनोवृत्तिरूप (अंकित) होने पर ही उस वृत्ति का आवर्तन करने से पुनः स्मरण करने से (उन) मन्त्रों का मानसिक रूप जप किया जाना ठीक हो सकता है। अन्यथा घटादि के समान मन के विषय न होने के कारण तो मन्त्रों की आवृत्ति भी नहीं हो सकती।

यह न तो वस्तुस्थिति है न ही युक्ति। यह वस्तुस्थिति इस कारण नहीं है कि जब हम किसी बात का मानसिक जप करते हैं तो बुद्धि के आश्रय जीवात्मा जप करता है। मन स्मरण तो रखता है किन्तु वह जप नहीं करता। मन एक फोटोग्राफ के प्लेट की भाँति पूर्व की बात स्मरण कराता है, परन्तु उसपर विचार करना और उसका पुनः अवलोकन करना मन का कार्य नहीं है। यह बुद्धि और जीवात्मा का कार्य है।

इस कथन में युक्तिहीनता इस कारण है कि दक्षिण में ऋक् है, वाम में यजुः है और पुच्छ में अथर्व है। हम जानना चाहते हैं कि इसके विपरीत क्यों नहीं है ?

मन अणुमात्र है। यह पूर्ण शरीर में व्याप्त नहीं। न ही इसका स्वरूप पूर्ण अन्नमय अथवा प्राणमय कोषों के समान है। इसका स्वरूप शरीर के समान नहीं है।

चतुर्थ अनुवाक

यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् । न बिभेति कदाचनेति । तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य ।

तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयस्तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः । तस्य श्रद्धैव शिरः । ऋतं दक्षिणः पक्षः । सत्यमुत्तरः पक्षः । योग आत्मा । महः पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष इलोको भवति ॥२-४-१॥

अर्थ—जहाँ से वाणियाँ वाक् आदि इन्द्रियाँ लौट जाती हैं और मन के साथ जिसको नहीं पा सकतीं, उस ब्रह्मा के आनन्द को जानता हुआ विद्वान् (जीवात्मा) किसी काल में भी नहीं डरता। जो पूर्व में

मनोमयकोष कहा है, उसका ही यह आत्मा है। उस प्राणमय कोष का अथवा इस मनोमयकोष का यह विज्ञानमय कोष शारीरिक आत्मा है।

उस मनोमय से दूसरा, इसका अन्तरात्मा विज्ञानमय है। उससे यह पूर्ण भरा हुआ है यह विज्ञानमय भी पुरुषाकार है। उसका श्रद्धा शिर है। ऋत दक्षिणपक्ष है, सत्य उत्तर पक्ष है, योग आत्मा है। और महत्त्व पुच्छ है। उसके विषय में ही यह श्लोक है।

विवेचना—यदि इस बल्ली के इस भाग से उपनिषदकार यह बताना चाहता हो कि पुरुष के शरीर में ये पदार्थ, अन्नमय शरीर, प्राणमय शक्ति, मनोमय मनन करने की शक्ति और विज्ञानमय बुद्धि की भाँति कार्य करनेवाली शक्ति है, तो यह ठीक है। परन्तु ये एक-दूसरे के भीतर हैं और उसी आकार के हैं जिस आकार का पुरुष है, तब ठीक नहीं है। जिसका यह अन्नमय शरीर है, यदि ये उसी आकार के हैं तो यह ठीक नहीं है। न तो ये एक दूसरे के भीतर हैं न ही ये शरीर के सब अंगों में हैं। इस कारण इस बल्ली के इस अनुवाक का अधिकांश कथन केवल उपनिषदकार की एक शैली विशेष है, जो भ्रमोत्पादक है।

वस्तुस्थिति यह है कि अन्नमय शरीर और उसमें प्राणमय शक्ति तो पूर्ण शरीर में है। परन्तु जहाँ तक मनोमय कोष का सम्बन्ध है, यह कोष है ही नहीं। मन तो अणुमात्र पदार्थ है जो पुरुष के मस्तिष्क की गुहा में रहता है। शरीर के कुछ अन्य भागों से जो कुछ भी इसका सम्बन्ध है, वह इन्द्रियों के द्वारा ही है। इन्द्रियाँ पूर्ण शरीर में व्याप्त नहीं हैं। ये विशेष अंगों में ही हैं। उदाहरणार्थ नेत्र, नाक, कान इत्यादि ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। मन का इनसे सम्बन्ध है। ये कान अथवा नाक, जो शरीर में उभरा हुआ मांस का भाग है वह इन्द्रिय नहीं है। इन्द्रियाँ तो वे शक्तियाँ हैं जो नाक, आँख, कान इत्यादि गोलकों के भीतर से आरम्भ होनेवाली उस शिरा (नर्व) में कार्य कर रही हैं जो गोलक से चलकर मस्तिष्क के उस भाग तक जाती हैं जहाँ पर मन स्थित है। शिराओं में चलने वाली शक्ति तो प्राण है। वही इन्द्रिय की शक्ति है। उस शक्ति से इन्द्रिय का गोलक मन से सम्बन्धित है। मन का यह सम्बन्ध इन्द्रियों से ही है, शरीर के अन्य अंगों से नहीं है। यही बात विज्ञान बुद्धि की है। मन और विज्ञान बुद्धि की शक्ति पूर्ण शरीर में व्याप्त नहीं है। मन और बुद्धि के विषय में सांख्यदर्शन में विस्तार से विवेचन किया गया है। वहाँ कहा है—

करणं त्रयोदशविधमवान्तरभेदात् ।

इन्द्रियेषु साधकतमत्वयोगात् कुठारवत् ॥

द्वयोः प्रधानं मनो लोकवत् भृत्यवर्गेषु ॥

अव्यभिचारात् ॥

तथाऽशेषसंस्काराधारत्वात् ॥

स्मृत्यनुमानाच्च ॥ सम्भवेन्न स्वतः ॥ सां० २-३८ से ४४ तक ॥

इनका अभिप्राय है—मनुष्य के शरीर में तेरह करण हैं। करण का अभिप्राय उन साधनों से है जिनसे शरीर कार्य कर सकता है। वे करण हैं इन्द्रियाँ। जो कुल्हाड़े की भाँति कार्य करती हैं। कुल्हाड़ा स्वयं कार्य नहीं करता। जिसके हाथ में कुल्हाड़ा होता है, वह उससे कार्य सम्पन्न कर सकता है। इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं और इनसे कार्य सम्पन्न करानेवाला मन है। वह उनसे इस प्रकार कार्य लेता है जिस प्रकार जमादार नौकरों से लेता है। मन का कार्य अनियमित नहीं है। इसका कार्य नियत है। उसे ही यह कर सकता है। मन सम्पूर्ण संस्कारों का आधार है। ठहरने का स्थान है। ये इन्द्रियाँ और मन स्वयं कार्य नहीं कर सकते। इनसे कार्य सम्पादन करानेवाला कोई अन्य ही है।

ऊपर कहा है कि करण अर्थात् कर्म के साधन तेरह हैं। इन तेरह में पाँच हैं कर्मन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, एक आभ्यन्तरिक इन्द्रिय। इस प्रकार ये ग्यारह हुईं।

आभ्यन्तरिक इन्द्रिय से अभिप्राय मस्तिष्क के उस भाग से है जहाँ दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ जाकर एकत्रित हो मन से संयुक्त हो जाती हैं। वारहवाँ है मन और तेरहवाँ करण है बुद्धि। बुद्धि के विषय में सांख्यदर्शन का कथन है—

अध्यवसायो बुद्धिः ।

तत्कार्यं धर्मादि ॥

महदुपरागाद्विपरीतम् ॥

अभिमानोऽहंकारः ॥ सां० २-१३ से १६ ॥

इनका अभिप्राय है कि किसी विषय में निश्चय करना बुद्धि का कार्य है। इसका कार्य यह निश्चय करना है कि अमुक कार्य धर्म अर्थात् करणीय है अथवा अधर्म अर्थात् अकरणीय। मोह के कारण बुद्धि विपरीत भी हो जाती है। इसमें अहंकार और अभिमान उत्पन्न हो जाते हैं।

यह जो कुछ सांख्यदर्शन में कहा गया है, वह उससे भिन्न है जो इस उपनिषद् में कहा गया है। बुद्धि तो केवल मस्तिष्क में मन और जीवात्मा के समीप स्थित होती है। मन भी वहीं होता है परन्तु यह इन्द्रियों से सम्बन्धित शरीर के कुछ अंगों से ही सम्बन्धित होता है।

कभी विज्ञान का अर्थ चेतना भी ग्रहण किया जाता है। चेतना का अर्थ जीवन का संचार है। अर्थात् शरीर का वह गुण जिससे शरीर का जीवित होना पता चले। परन्तु उपनिषद् के अगले मन्त्र से यही विदित होता है कि विज्ञान का अर्थ चेतना नहीं अपितु मन के कार्यों को दिशा देनेवाला वह यन्त्र है जिसका वर्णन हमने सांख्य के सूत्रों द्वारा किया है।

पंचम अनुवाक

विज्ञानं यज्ञं तनुते । कर्माणि तनुतेऽपि च । विज्ञानं देवाः सर्वे । ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते । विज्ञानं ब्रह्मचेद्वेद । तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति । शरीरे पाप्मनो हित्वा । सर्वान्कामान् समश्नुते इति । तस्यैष एव शारीर आत्मा । यः पूर्वस्य ।

तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः । तेनैषः पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधताम् । अन्वयं पुरुषविधः । तस्य प्रियमेव शिरः । मोदो दक्षिणः पक्षः । प्रमोद उत्तरः पक्षः । आनन्द आत्मा । ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति ॥२-५-१॥

अर्थ—विज्ञान यज्ञ का विस्तार करता है, वही कर्मों का भी विस्तार करता है । विज्ञान सब देवता (इन्द्रियाँ) हैं जो ज्येष्ठ ब्रह्म की उपासना करते हैं । यदि कोई विद्वान् विज्ञान को ब्रह्म जानता है और उसमें प्रमाद नहीं करता तो शरीर रहते ही पापों का उच्छेद करके सब कामनाओं को प्राप्त करता है । वह जो पूर्व में कहा है उसका अन्तरात्मा यह विज्ञानमय कोष है ।

उस विज्ञानमय कोष के भी दूसरा आनन्दमय कोष है । उससे यह पूर्ण है । भरा हुआ है । यह आनन्दमय उस विज्ञानमय के द्वारा यह पूर्ण है । पहले की भाँति यह भी पुरुषाकार है । उसका शिर प्रिय है । (सुखमय है ।) मोद दक्षिण पक्ष है । प्रमोद वाम पक्ष है और ब्रह्म के पुच्छ में प्रतिष्ठा है । उसके विषय में ही यह श्लोक है ।

विवेचना—उपनिषद्कार ने इस अनुवाक में विज्ञान के विषय में कुछ विशेष न लिखकर केवल उसके अर्थों को ही स्पष्ट किया है । उपनिषद्कार का कथन है कि विज्ञान यज्ञ का विस्तार करता है । स्पष्ट है कि कर्म का विस्तार बुद्धि करती है । कर्म चाहे वह कोई धर्म-कर्म हो अथवा कोई उद्योग धन्या, उसका विस्तार बुद्धि का ही कार्य है ।

इसमें ही आगे कहा है कि सब देव (इन्द्रियाँ) ज्येष्ठ ब्रह्म की ही उपासना करते हैं । इसका अभिप्राय है कि इन्द्रियाँ बुद्धि के परामर्श से ही कार्य करती हैं । इससे स्पष्ट होता है कि हमारे और उपनिषद्कार के मत में समानता है । वह विज्ञान का अभिप्राय चेतना नहीं मानता । उसका विज्ञान से अभिप्राय बुद्धि ही है, चेतना नहीं । अतः बुद्धि अन्नमय शरीर तथा प्राणमय कोष के आकार-प्रकार की नहीं है । न ही मन पुरुषाकार है । इन दोनों कलाओं का विस्तार भी पूर्ण शरीर में नहीं है । जहाँ तक इनके कार्यक्षेत्र का सम्बन्ध है वह केवल शरीर ही नहीं, अपितु शरीर से बाहर भी है । मन जब किसी सुन्दर दृश्य को देखता है तो उससे प्रभावित होकर

उसको पाने की इच्छा करने लगता है। यही बात बुद्धि की है। यह शरीर से बाहर की बातों का भी चिन्तन और विश्लेषण करती है।

अतः उपनिषद् में इनके आकार-प्रकार के विषय में जो कुछ भी लिखा है, वह भ्रमोत्पादक है।

इसमें आगे कहा गया है कि विज्ञान ब्रह्म है। इसके दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो यह कि बुद्धि कोई बहुत बड़ा यन्त्र है। दूसरा यह कि वह कोई श्रेष्ठ कर्म करने-वाला यन्त्र है। इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि यह परमात्मा है। किन्तु हम इस अर्थ को स्वीकार नहीं कर सकते। कुछ अन्य भाष्यकार इसको जीवात्मा भी मानते हैं। हमें यह भी स्वीकार नहीं है। हमारा मत तो यह है कि उपनिषद्कार विज्ञान का अभिप्राय बुद्धि—ऐसा ग्रहण करता है। ऐसी स्थिति में न तो यह परमात्मा है और न जीवात्मा ही। ब्रह्म का अभिप्राय कोई श्रेष्ठ अथवा उत्तम यन्त्र ही हो सकता है।

विज्ञान कोष के उपरान्त आनन्दमय कोष का वर्णन किया गया है।

उपनिषद्कार आनन्द और सुख जिसे शरीर के अंगों की सुविधा भी कहा जा सकता है, उन्हें एक ही मानता है। हम इस विषय पर आगे चलकर लिखेंगे। हम इन दोनों में अन्तर को समझते हैं। उपनिषद्कार आनन्दमय कोष को भी पूर्ण शरीर में विस्तारवाला मानता है। इतना तो स्पष्ट ही है कि आनन्द जीवात्मा का विषय है। इस कारण यह उस पूर्ण क्षेत्र में अनुभव होता है जो जीवात्मा के आधिपत्य में है।

इस मन्त्र में तीन शब्दों का प्रयोग है। वे हैं—प्रिय, मोद और प्रमोद। इनमें यह अन्तर है कि प्रिय मन को होता है। मोद और प्रमोद में केवल उपसर्ग का अन्तर है। ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषद्कार कोई लकीर-सी पीट रहा है। हमारी दृष्टि में ये पर्यायवाचक शब्द हैं। इस दृष्टि से इनको दक्षिण अथवा वाम आदि कहने का कोई कारण विशेष नहीं है।

उपनिषद्कार ने ये पाँच कोष बताये हैं। उसका मन्तव्य है कि एक पहले के भीतर है। इससे उसका यह भी अभिप्राय हो सकता है कि प्रथम की अपेक्षा द्वितीय सूक्ष्म है। अन्तमयकोष तो अतिस्थूल है। अन्तमय कोष की अपेक्षा प्राणमयकोष सूक्ष्म है। और इसी प्रकार प्राणमयकोष से मनोमयकोष सूक्ष्म है और मनोमय की अपेक्षा विज्ञानमय कोष सूक्ष्म है। आनन्दमयकोष तो उससे भी सूक्ष्म है। आनन्दमयकोष को तो अवस्तु ही कहा जा सकता है। वह केवल अनुभव मात्र ही है।

हमने यह कहा है कि ये एक-दूसरे के भीतर नहीं हैं। जहाँ तक सूक्ष्म और सूक्ष्मतर का सम्बन्ध है मन और बुद्धि से प्राण सूक्ष्म है। इस दृष्टि से भी ये एक दूसरे के भीतर नहीं कहे जा सकते।

अन्य शास्त्रों के अनुसार वस्तुस्थिति यह है कि अन्न पूर्ण शरीर का पालन करता है। इस पूर्ण शरीर में प्राण, मन और बुद्धि भी समाहित है। उसका कारण यह है कि शरीर छूटने पर मन और बुद्धि भी शरीर की भाँति विघटित हो जाते हैं। ये शरीर के ही अंग हैं। प्राण के विषय में कहा है कि प्रयाण काल में शरीर तो भस्म हो जाता है परन्तु प्राण जीवात्मा को लेकर शरीर छोड़ जाता है।

इस विषय में एक वेदमन्त्र है—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।

ओं क्रतो स्मर विलवे स्मर कृतं स्मर ॥ यजु० ४०-१५॥

अर्थ—हे कर्म करनेवाले ! शरीर छूटते ही, परमात्मा का नाम स्मरण कर। अपने सामर्थ्य के लिए परमात्मा का नाम स्मरण कर (किसी शुभ स्थान अर्थात् जन्म में आने के लिए अपने किये हुए कर्मों का स्मरण कर)। वायु, वह शक्ति है जो शरीर के अंगों को गठित किये हुए है और अनिल वह वायु है जो अमृत अर्थात् अमर है। अभिप्राय है प्राण। प्राण शरीर छोड़कर चला जाता है और शरीर को भस्म कर दिया जाता है।

इस मन्त्र में शरीर जो भस्म किया जाता है, वायु ईश्वरीय शक्ति जो शरीर के अंगों को गठित किये हुए है और कर्म करनेवाला, तीनों का वर्णन पृथक्-पृथक् किया गया है।

इसी प्रकार ऋग्वेद के १-१६४-१ में शरीर निर्माण करनेवाली प्रकृति, भोग करनेवाला जीवात्मा और इन दोनों की रक्षा और पालन करनेवाला परमात्मा का वर्णन किया गया है। साथ ही उसमें परमात्मा के सात पुत्रों का भी वर्णन है। शरीर में कार्यरत सात प्राण ही ये सात पुत्र हैं।

हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि दूसरे शास्त्रों में उपनिषद्कार से भिन्न प्रकार से शरीर का वर्णन किया गया है।

षष्ठ अनुवाक

असन्नेव स भवति । असद् ब्रह्मेति वेद चेत् । अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद । सन्तमेनं ततो विदुरिति ।

तस्यैष एष शरीर आत्मा यः पूर्वस्य ।

अथातोऽनुप्रश्नाः । उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चन गच्छती ३ ।
आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चित्समश्नुता ३ उ ।

सोऽकामयत् । बहु स्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत् । स तपस्तप्त्वा
इदं सर्वमसृजत् यदिदं किं च । तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । तदनु-
प्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् । निरुक्तं चानिरुक्तं च । निलयनं चानिलयनं
च । विज्ञानं चाविज्ञानं च । सत्यं चानृतं च सत्यमभवत् । यदिदं किं च ।
तत्सत्यमित्याचक्षते । तदप्येष श्लोको भवति ॥२-६-१॥

अर्थ—वह असत् (सत् नहीं) है । ऐसा वह जानता है तो वह
(स्वयं भी) नहीं है । और यदि वह ब्रह्म को मानता है कि वह है तो वह
स्वयं को भी मानता है । विद्वान् लोग ऐसा मानते हैं कि वह है ।

जो पूर्व में (आनन्दमय कोष) कहा है इसीका वह शरीर है । यह
उसका आत्मा है ।

तब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि अविद्वान् मनुष्य जो ब्रह्म को
नहीं मानता वह भी इस लोक को छोड़कर क्या वहाँ (ब्रह्मलोक में)
जाता है ?

उसने कामना की कि मैं बहुत हो जाऊँ । वह तपा । तप कर
उसने यह सब सृजन किया । उसके सृजन होने पर वह (परमात्मा)
उसमें प्रविष्ट हो गया । और वह उसमें प्रविष्ट होकर ऐसा (व्यक्त)
और वैसा (अव्यक्त) दोनों हो गया । वह कथनीय और अकथनीय हो
गया । वह आवासरयुक्त और आधाररहित हो गया । वह जानने योग्य
और न जानने योग्य हो गया । वह सत्य और भूठ हो गया । यह जो
कुछ है, रचित जगत् उसे सत्य इसी विचार से जानते हैं । इसी विषय
में यह श्लोक है ।

विवेचना—उपनिषद्कार ने कहा है कि जो ब्रह्म को नहीं जानता, वह स्वयं
को भी नहीं जानता । कारण यह कि वह स्वयं भी ब्रह्म है । यदि ब्रह्म नहीं तो वह
स्वयं भी नहीं ।

मनुष्य स्वयं तो तीन अनादि शाश्वत पदार्थों (परमात्मा, प्रकृति और
जीवात्मा) का बना हुआ है । (ऋ०वे० १-१६४-१) इससे यह प्रतीत होता है कि
तैत्तिरीयोपनिषद्कार भी तीन ब्रह्म मानता है । श्वेताश्वतर उपनिषद् में तो स्पष्ट
ही यह लिखा है —

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजी ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुदता ।

अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥श्वेता० १-६॥

इसका अर्थ है कि एक अज्ञा ज्ञानवान् है और एक अज्ञा अज्ञानी है । ज्ञानवान्
शक्तिशाली है और अज्ञानी दुर्बल है । एक अन्य अजन्मा है । वह अज्ञानी के लिए
भोग्य पदार्थ प्रस्तुत करता है । जो अनन्त (सर्वव्यापक) है वह अकर्ता है और सब

रूपों (सब रूपों के पदार्थों) को बनानेवाला है। यह तीन प्रकार का ब्रह्म है। जो ऐसा जानता है, वही जानता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि इस उपनिषद् का रचयिता भी तीन अनादि पदार्थों का ब्रह्म मानता है। उपनिषद्कार ने आगे चलकर इसी मन्त्र में और भी स्पष्ट कर दिया है। किसी जिज्ञासु ने प्रश्न किया कि क्या जो मनुष्य अज्ञानी है अर्थात् जो ब्रह्म को नहीं मानता वह भी परमात्मा को प्राप्त करता है? इसके उत्तर में ही उपनिषद्कार ने कहा है—

वह कामना करता है। यहाँ 'वह' किसके लिए आया है? यह आगे के कथन से स्पष्ट हो जायेगा। उपनिषद्कार कह रहा है कि उसने कामना की और कामना से तपने लगा। तपकर यह सब कुछ सृजन किया। जो कुछ भी है वह उसने बनाया। इस सबको बनाकर वह इसमें प्रविष्ट हो गया। जो बना था वह प्रविष्ट होनेवाले से पृथक् था।

कामना करनेवाली प्रकृति थी अथवा कि परमात्मा? यह प्रश्न है। एक मत तो यह है कि कामना करनेवाला परमात्मा था, ऐसा ही वेद में कहा गया है। कामना तो कोई चेतन ही कर सकता है। परन्तु जब उसने सृजन किया तो वह सृजन से पृथक् था। और सृजन करने के उपरान्त वह उसमें प्रविष्ट हुआ। स्पष्ट है कि सृजन किया हुआ परमात्मा नहीं था। इसी कारण उसने पहले कहा है कि मनुष्य स्वयं भी ब्रह्म है।

तदपि हमारी मान्यता है कि उपनिषद्कार ब्रह्म से तो तीन प्रकार के अनादि पदार्थों को कहता है और आत्मा परमात्मा को आत्मा शब्द से स्मरण करता है।

उपनिषद्कार कह रहा है कि परमात्मा ने सृष्टि रचना की। इस स्थान पर यह नहीं बताया कि रचना में कुछ उपादान के रूप में प्रयोग किया गया अथवा कि नहीं। इतना स्पष्ट कर दिया है कि जो कुछ भी बना, वह उससे पृथक् था और उसमें प्रविष्ट हो गया।

प्रकृति ने कामना की कि वह अनेक हो जाये। इस कामना के फलस्वरूप रचना आरम्भ हो गई। प्रश्न यह है कि क्या अचेतन प्रकृति कामना कर सकती है? इस विषय में यह कहा जा सकता है कि कामना का अभिप्राय प्रवृत्ति है जोकि प्रकृति में विद्यमान रहती है। प्रकृति में परिवर्तन की प्रवृत्ति भी रहती है। ऐसा वेद का मत है और शतपथ ब्राह्मण १-१-१ में भी यही प्रकट किया है। इस विषय में ऋग्वेद का मन्त्र उद्धृत है—

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ॥१०-१२६-४॥

अर्थ—रचनापूर्व काल में सृष्टि रचना की इच्छा सबसे ऊपर विद्यमान थी। वह मन की कामना सबसे पहले बीज बन गई और रचना आरम्भ हो गई।

अतः उपनिषद्कार का यह कथन है कि प्रकृति में कामना उत्पन्न हुई कि

वह अनेक हो जाय। जब रचना हुई तो परमात्मा ने उस रचना में प्रविष्ट हो जाना उचित समझा। वह उसमें प्रविष्ट हो गया।

सप्तम अनुवाक

असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानं स्वयमकुरुत्। तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति।

यद्वै तत्सुकृतं रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राप्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति।

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति।

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषो मन्वानस्य। तदप्येष श्लोको भवति ॥२-७-१॥

अर्थ—पहले यह (प्रकृति) असद् (अव्यक्त) ही थी। तब यह सत् (व्यक्त) हो गई। इसने अपने को ही स्वयं बनाया। तबसे यह सुकृत कही जाती है।

जो वह सुकृत है वही रस है। रस को पाकर ही निश्चय से वह आनन्दयुक्त हो गई। निश्चय से कौन अन्य है जो प्राण का प्रयोग कर सकता है।

यदि (हृदय) आकाश में वह इस आनन्दमय से युक्त न होता तो वह उस शुद्ध निर्मल आत्मारहित शरीर में अभय स्थिति को कैसे प्राप्त होता? अतः वह आनन्दमय होने से अभय हो जाता है।

और जब वह इससे थोड़ा-सा भी भेद करता है तो उसे भय प्राप्त होने लगता है। यह भेद मानना ही भय का कारण है। इस विषय में ही यह श्लोक (कथन) है।

विवेचना—यह कथन तो बहुत ही स्पष्ट है। केवल कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषद्कार सत् और असत्, जिसके विषय में वह कह रहा है, वह क्या है? इतना भर उल्लेख भी इसमें नहीं कर पाया है। वह कौन है जो पहले असत् था, कालान्तर में सत् हो गया। इसके साथ ही सत् का अभिप्राय क्या है और असत् का अभिप्राय क्या है, यह भी नहीं कहा गया है। अधिकांश भाष्यकार एक

वात नहीं समझ पाये हैं। वह यह कि वेद में असत् और सत् शब्द जब प्रकृति के सम्बन्ध में आते हैं तो इन शब्दों के अर्थ अव्यक्त और व्यक्त हो जाते हैं। व्यक्त का अभिप्राय है वे पदार्थ जो इन्द्रियगोचर नहीं और सत् के अर्थ होते हैं जिनको इन्द्रिय द्वारा जाना जा सके। भगवद् गीता में भी प्रकृति के दो रूपों का, अध्याय १३ श्लोक २२ में सत् और असत् शब्दों द्वारा वर्णन किया गया है। इसी प्रकार ऋग्वेद १०-१२६-१ में भी वर्णन है।

सत् के अर्थ अविनाशी भी कहे गये हैं। परमात्मा, प्रकृति और जीवात्मा को भी सत् माना गया है। हमारे मत में यहाँ पर असत् और सत् से अभिप्राय अव्यक्त और व्यक्त से ही है। हम समझते हैं कि उपनिषद् के इस मन्त्र में और इसके पूर्व के मन्त्र में भी प्रकृति का ही वर्णन है। वहाँ कहा गया है कि प्रकृति पहले अर्थात् रचना होने से पूर्व असत् ही थी। कालान्तर में यह सत् हो गई। इसका अभिप्राय यह हुआ कि प्रकृति रचना से पूर्व इन्द्रियगोचर नहीं थी और कालान्तर में यह जानी जाने योग्य हो गई।

यही बात ऋग्वेद १०-१२६-४ में इस प्रकार कही गई है—

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।

सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीक्ष्या कवयो मनीषा ॥

अर्थ—पहले कामना (सृष्टि रचना की इच्छा) सर्वत्र विद्यमान थी। वह रचना का बीज बन गई। तब महान् विद्वान् ने प्रकृति के केन्द्र-स्थान में ज्ञान शक्ति से प्रेरित होकर प्रकृति (असत्) को व्यक्त कर (बाँध) दिया।

उपनिषद्कार का भी कथन यही है। यह पहले असत् था और कालान्तर में सत् बन गया। तब यह (रचित जगत्) आनन्दमय हो गया। इसका अभिप्राय उपनिषद्कार ने इससे पूर्व मन्त्र में स्पष्ट कर दिया है कि जब जगत् बना तो वह इसमें आकर प्रविष्ट हो गया। इसका अभिप्राय हमने यथास्थान समझाया है कि जब जगत् की रचना हुई तो परमात्मा आकर उसमें स्थित हो गया। यहाँ कहा गया है कि वह आनन्दमय हो गया। इसका अभिप्राय है कि जगत् प्राणवान् हो गया।

स्वामी शंकराचार्य तो परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी को मानते नहीं। अतः वे भली-भाँति समझा नहीं सके कि किसमें कौन आकर बैठ गया।

आनन्दमय होने से पहले वह क्या था? यदि सब परमात्मा ही था तो पहले वह आनन्दमय क्यों नहीं था? क्या परमात्मा किसी अवस्था में आनन्दरहित भी होता है?

वेद में अन्धकारमय प्रकृति से परमात्मा के सहयोग से रचित जगत् के बनने का विस्तार से वर्णन किया गया है। हमने इस विषय को अपनी पुस्तक 'सृष्टि रचना' में विस्तार से स्पष्ट किया है। वह दृष्टव्य है।

अन्त में उपनिषद्कार ने कहा है कि यदि परमात्मा उसमें आकर विराजमान न होता तो इस प्रकृति से बने जड़ शरीर में जीवात्मा निर्भय होकर न बैठ सकता । इससे स्वामी शंकराचार्य की बात भी असिद्ध हो जाती है ।

अष्टम अनुवाक

भीषाऽस्माद्वातः पवते । भीषोदेतिसूर्यः । भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च । मृत्युर्धावति पंचम इति ।

सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति । युवा स्यात्साधुयुवाध्यायकः । आशिष्ठो दृढिष्ठो बलिष्ठस्तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात् । स एको मानुष आनन्दः । ते ये शतं मानुषा आनन्दाः ॥२-८-१॥

अर्थ—उस (परमात्मा) के भय से वायु चलती है । उसके भय से सूर्य उदय (प्रकाशित) होता है । उसके ही भय से अग्नि और इन्द्र कार्य करते हैं । पाँचवाँ मृत्यु भी उसी के भय से भागता-फिरता है । यह है प्रकृति के आनन्दमय होने की मीमांसा ।

साधु स्वभाव युवक जब वेद पढ़ा हो, अत्यन्त आशावान हो, अत्यन्त दृढ़ बलिष्ठ और जिसके पास धन-धान्य तथा पृथिवी भी हो, उसके आनन्द को मानवी आनन्द की भरपूर मात्रा कहा जाता है । ऐसा आनन्द यदि सौ गुणा कर दिया जाय तो जो आनन्द होगा वह एक गन्धर्व के आनन्द के समान कहा जायेगा ।

स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः । स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः । स एकः पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दाः । स एकः आजानजानां देवानामानन्दः ॥२-८-२॥

अर्थ—यही जो गन्धर्वों का आनन्द है वह एक कामना-रहित श्रोत्रिय के भी प्राप्त है । मनुष्यगन्धर्वों के जो आनन्द हैं वही देव-

गन्धर्व का एक आनन्द है। और वह कामनारहित एक श्रोत्रिय को भी प्राप्त है। देव-गन्धर्वों के आनन्द का सौ गुणा आनन्द वह नित्य लोकपाल में रहनेवाले पितरगण का एक आनन्द है। वह कामनारहित श्रोत्रियों को भी प्राप्त है। चिरलोक निवासी के जो सौ आनन्द हैं वही अज्ञानज (गुणहीन) देवताओं का आनन्द है।

श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः । स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः । ये कर्मणा देवानपियन्ति । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः । स एको देवानामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं देवानामानन्दाः । स एक इन्द्रस्यानन्दः ॥२-८-३॥

अर्थ—और यह कामनारहित श्रोत्रियों को भी प्राप्त है। अज्ञानज देवताओं का जो सौ आनन्द है वही कर्म देवताओं का एक आनन्द है और वह कामनारहित श्रोत्रियों को भी प्राप्त है। देवताओं का जो सौ आनन्द है वह इन्द्र का एक आनन्द है यह कामनारहित श्रोत्रियों को भी प्राप्त है।

श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः । स एको बृहस्पतेरानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः । स एकः प्रजापतेरानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः । स एको ब्रह्मण आनन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥

२-८-४॥

अर्थ—यह कामनारहित श्रोत्रियों को भी प्राप्त है। इन्द्र का जो सौ आनन्द है वह बृहस्पति का आनन्द है। वह कामनारहित श्रोत्रियों को भी प्राप्त है। बृहस्पति के जो सौ आनन्द हैं वह प्रजापति का एक आनन्द है। वह कामनारहित श्रोत्रियों को भी प्राप्त है। प्रजापति के जो सौ आनन्द हैं वे ब्रह्म का एक आनन्द है। यह कामनारहित श्रोत्रियों को भी प्राप्त है।

विवेचना — उपनिषद्कार ने इस अनुवाक के प्रथम मन्त्र में बताया है कि जड़-जगत् के आनन्दमय होने का अभिप्राय यह है कि परमात्मा उसमें आ बैठता है। इससे पूर्व उसने यह बताया था कि जब जगत् की रचना होती है, तब वह उसमें प्रवेश कर जाता है। यह प्राण के विषय में ही कहा गया था। वैसे तो परमात्मा सदा और सर्वत्र ही विद्यमान है। अतः जगत् के निर्माण के उपरान्त उसमें प्रवेश करने की बात तो प्राण की ही थी। तदुपरान्त मन्त्र में प्राण के आ जाने अर्थात् जड़-जगत् के प्राणवान् होने की बात बताई है कि उसके कारण ही वायु चलता है, सूर्य प्रकाशित होता है। यहाँ तक कि मृत्यु भी उससे ही आती है। ये सब तथा इसके अतिरिक्त भी जड़-जगत् के सब क्रियाकलाप परमात्मा के प्राण के कारण ही हैं।

उसके अगले मन्त्रों में उपनिषद्कार ने बताया है कि प्राण के आनन्दमय होने से क्या हो जाता है। यद्यपि उपनिषद्कार शब्द तो आनन्दमय होने का प्रयुक्त कर रहा है परन्तु आनन्दमय होने से उसका अभिप्राय प्राणमय होने से ही है। उसने मनुष्य के आनन्द अर्थात् प्राणवान् होने की तुलना अन्य प्राणियों से की है। उसका कहना है कि मनुष्य से गन्धर्व, गन्धर्व से देव, देव से पितर, पितर से देवता, देवता से कर्म देवता, उससे इन्द्र, इन्द्र से बृहस्पति, बृहस्पति से प्रजापति और प्रजापति से परमात्मा उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्राणवान् होता गया है। इस शृङ्खला में अन्तिम नाम है परमात्मा का अर्थात् परमात्मा सर्वाधिक प्राणवान् है। यह कहा जा सकता है कि वह शतप्रतिशत प्राणवान् है।

शृङ्खला में अन्तिम संज्ञा है 'ब्रह्म'। हमने इसका अर्थ परमात्मा किया है। कुछ अन्य भाष्यकारों ने इसका अर्थ ब्रह्मा भी किया है। हम प्रजापति को ब्रह्मा मानते हैं। इसके अतिरिक्त शत-प्रतिशत प्राण का स्वामी तो परमात्मा ही हो सकता है।

स्वामी शंकराचार्य ने तो जीव, प्रकृति और परमात्मा को एक ही नाम से स्मरण किया है। तदपि भिन्न-भिन्न प्राणियों में उन्होंने आनन्द की मात्रा भिन्न-भिन्न स्वीकार की है। इसका अभिप्राय तो यही हुआ कि स्वामी शंकराचार्य का परमात्मा एक रस नहीं है। वह मनुष्य की भाँति एक अंश में ही आनन्द वाला है। तब शेष तो दुःखमय ही होगा। स्वामी शंकराचार्य के परमात्मा के एक अंश में आनन्द की मात्रा अधिक है दूसरे में न्यून है। हमें उनके परमात्मा पर दया आती है।

**स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः । स य एवंविदस्माल्लो-
कात्प्रेत्य । एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति । एतं प्राणमयमात्मानमुप-
संक्रामति । एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रामति । एतं विज्ञानमयमात्मा-**

नमुपसंक्रामति । एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति । तदप्येष श्लोको भवति ॥२-८-५॥

अर्थ—वह जो इस पुरुष में है और जो आदित्य में है वह एक ही है । [ऊपर आदित्य को परमात्मा के प्राण के भय से प्रकाशित होने की बात कही है । यहाँ उस और ही संकेत है ।]

वह जो इस लोक से जाना जाता है (अर्थात् जीवात्मा) जब अन्त-काल में जाने लगता है तो,

अन्नमयकोष से उसका आत्मा (प्राण) कोष की ओर खिसक जाता है । तब वह प्राणमय है । उसका आत्मा मनोमय की ओर खिसक जाता है । तदनन्तर वह मनोमय है उसका आत्मा प्रज्ञानमय की ओर खिसक जाता है । तदनन्तर विज्ञानमय से उसका आत्मा आनन्दमय की ओर खिसक जाता है । इस विषय में ही यह कथन है ।

विवेचना—इस उपनिषद् में जिस खिसकने वाले का उल्लेख किया है वह जीवात्मा ही है । परमात्मा तो तब ही खिसक सकता है जब उसको उस स्थान पर जाना हो जिस स्थान पर कि वह विद्यमान न हो । यहाँ कहा गया है कि वह जीवात्मा जो पूर्ण ज्ञानवान् हो गया है, प्रयाणकाल में वह अन्नमय से खिसककर प्राणमय की ओर, वहाँ से खिसककर मनोमय की ओर और फिर मनोमय से खिसककर विज्ञानमय की ओर तथा आनन्दमय की ओर चल पड़ता है ।

बात बहुत सरल है । पशु अन्नमय में ही मस्त रहते हैं । मनुष्य ज्यों-ज्यों उन्नति करता जाता है, उसका जीवात्मा प्राण से मन की ओर, मन से बुद्धि की ओर जाता है और फिर बुद्धि ही उसको परमात्मा के योग में ले आती है ।

योग जो आनन्दमय को पा जाने का उपाय है वह बुद्धि को ही निर्मल करने का उपाय है । योगाभ्यास के अन्तिम स्तर पर बुद्धि की संज्ञा ऋतम्भरा हो जाती है और वह परमात्मा को स्पष्ट देख लेती है ।

नवम् अनुवाक

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् च विभेति कुतश्चनेति ।

एतद् वाच न तपति किमहं साधु नाकरवम् । किमहं पापमकरवमिति । स य एवं विद्वानेते आत्मानं स्पृणुते । उभे होवैष एते आत्मानं स्पृणुते । ~~य एवं वेद । इत्युपनिषत् ॥२-८-५॥~~

अर्थ—जब वाणी उसे प्राप्त न कर मन सहित लौट आती है (तब वह पुरुष अर्थात् जीवात्मा) उस आनन्द को प्राप्त हुआ किसी से नहीं डरता। उसे किसी प्रकार का सन्ताप नहीं होता। मैंने उसका कल्याण क्यों नहीं किया ? मैंने वह पाप क्यों किया है ? वह ऐसा जान जाता है तब ये कर्म उसके आत्मा को छू जाते हैं, परन्तु प्रभाव उत्पन्न नहीं करते। दोनों प्रकार के कर्म आत्मा को (केवल) छूते ही हैं। यही उपनिषद् का रहस्य है।

विवेचना—इस मन्त्र में समझने वाली बात यह है 'जब मन सहित वाणी उसको प्राप्त नहीं होती।' प्रथम जो बात है वह है वाणी की। वाणी कर्मेन्द्रिय है। वह सब कर्मेन्द्रियों का प्रतीक है। वैदिक ग्रन्थों की यह शैली है कि जब किसी पदार्थ के गुण का उल्लेख करना हो तो सबका नाम लेने की अपेक्षा एक का ही नाम ले लिया जाता है और उससे पूरे गुणों का अभिप्राय समझ लिया जाता है। अतः वाणी से पाँचों कर्मेन्द्रियों का अभिप्राय समझना चाहिये। कर्मेन्द्रियाँ कर्म करती हैं और उन कर्मों के संस्कार जीवात्मा पर पड़ते हैं। यह कहा गया है कि जब मन के आदेश से कर्मेन्द्रियाँ कार्य करती हैं और उनके कार्य का प्रभाव जीवात्मा तक नहीं पहुँचता अर्थात् वह कर्म आत्मा के किसी प्राप्तव्य के लिए नहीं होता तो कर्म का प्रभाव मन तक तो पहुँचता है, परन्तु वह जीवात्मा को प्राप्त नहीं होता।

जब जीवात्मा के हानि-लाभ के लिए कर्म नहीं होता तब जीवात्मा को उस कर्म से किसी प्रकार के हानि-लाभ की आकांक्षा नहीं होती। ऐसे कर्म को निष्काम कर्म कहते हैं। कर्म के कर्ता का अपना प्रयोजन नहीं होता। दूसरों के कल्याण के लिए ही वह कर्म होता है। ऐसा कर्म कर्ता के जीवात्मा तक पहुँचता तो है परन्तु उसपर किसी प्रकार का प्रभाव उत्पन्न नहीं करता।

निष्कर्ष यह है कि निष्काम भाव से किया कर्म मनुष्य के आत्मा पर प्रभाव नहीं डालता। इस तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मानन्द वल्ली का यही रहस्य है। अर्थात् मनुष्य को निष्काम भाव से ही सब कर्म करने चाहिए। ब्रह्म प्राप्ति का यही एक उपाय है।

ब्रह्मानन्द वल्ली का सारांश

जो ब्रह्म को जान जाता है वह परम को जान जाता है। परम का अभिप्राय परम ब्रह्म से है। परमब्रह्म का अभिप्राय श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस प्रकार समझाया है। वहाँ कहा है—

उद्गातमस्य परमं तु ब्रह्म तस्मिन्नेव मुप्रतिष्ठाक्षरं च । ७॥

अर्थ—ऊपर जो परम ब्रह्म कहा है उसमें तीन अक्षर प्रतिष्ठित हैं।

वे तीन अक्षर हैं—परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति। ये तीनों परम व्योम में आच्छादित हैं। कार्य-जगत् इसका एक भाग मात्र है। परन्तु यह ऐसा है कि जिसमें तीनों अक्षर उसी अनुपात में विद्यमान हैं जिस अनुपात में वे व्योम में हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में इसे भली-भाँति स्पष्ट करते हुए लिखा है—

पूर्णमदः पूर्णमिवं पूर्णात् पूर्णमुदच्युते।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥४० उ० ५-१-१॥

अर्थ—वह परम ब्रह्म पूर्ण है और यह कार्य जगत् भी पूर्ण है। पूर्ण से ही पूर्ण उत्पन्न होता है। इस कार्य जगत् का पूर्ण निकल जाने पर भी वह पूर्ण ही बचा रहता है।

इस कारण कहा है कि जो ब्रह्म को जान जाता है वह सब कुछ (तीनों अक्षरों) को जान जाता है। ब्रह्म सत्य है और अनन्त है। कार्य-जगत् तो उसका एक भाग मात्र है। भाग भी सब अंशों में पूर्ण है। इस कारण कार्य-जगत् को जाननेवाला ब्रह्म को जान जाता है।

जो उस महान् व्योम में व्यापक ब्रह्म को जान जाता है वह सब कामनाओं का भोग करता हुआ भी उस ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

उस और इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ। यहाँ पर उस और इससे अभिप्राय दो का है, जिनसे आकाश उत्पन्न हुआ। यहाँ आकाश का अर्थ व्योम नहीं है। यह आकाश पंच भौतिक है। व्योम असीम है। जो उत्पन्न होता है वह सीमा-वाला होता है। क्योंकि उत्पन्न होने से पूर्व वह नहीं था। इस कारण वह सीमावाला है।

अतः यहाँ पर 'उस और इस' से अभिप्राय है परमात्मा और प्रकृति। परमात्मा और प्रकृति के योग से आकाश और वायु इत्यादि पंचभूत उत्पन्न हुए। इन पंचभूतों से यह चलायमान जगत् बन गया।

उपनिषद्कार ने कहा है कि पृथिवी से अन्न उत्पन्न हुआ। यह अशुद्ध है। केवल एक पृथिवी से ही अन्न उत्पन्न नहीं हो सकता। अन्न सूर्य की रश्मियों की सहायता से उत्पन्न होता है। अन्न में केवल पंच भौतिक पृथिवी नहीं होती। इसमें अग्नि, वायु और जल भी होता है।

पंचभूतों से हमारा वास्तविक अभिप्राय यह भूमि, पेय जल तथा श्वास क्रियावाला वायु इत्यादि नहीं है। इसकी विस्तृत व्याख्या हमारी पुस्तक 'सृष्टि रचना' में पढ़िये।

वेद में अन्न का स्रोत सूर्य कहा है। यजुर्वेद में उल्लेख है—

इषे त्वोर्जे त्वा वायवस्थ देवो वः सविता प्रापयतु श्रेष्ठतमाय ॥१-१॥

अर्थ—सविता अर्थात् सूर्य जो सबको देनेवाला है वह अन्न और ऊर्जा हमको देता है, जिससे हम श्रेष्ठ कर्म करते हैं।

उपनिषद्कार ने पृथिवी से अर्थ भूमि लिया है। अन्न केवल भूमि की उपज नहीं है।

उपनिषद्कार का कथन है कि अन्न से शरीर बनता है। इस कारण शरीर में अन्नमय कोष है। अन्न के भीतर प्राणमय कोष है। कोष से अभिप्राय उस स्थान से है जहाँ कोई वस्तु छिपी रहती है। अतः शरीर अन्न का कोष है। अन्न प्राण का कोष है। इनके दायें-बायें और पुच्छ कहने का अभिप्राय है कि ये दोनों पूर्ण शरीर में व्याप्त हैं।

इसके आगे उपनिषद्कार ने कहा है कि इनके भीतर सार रूप मन और इन्हीं के आकार वाला मनोमय कोष तथा विज्ञानमय कोष है।

हमने इसपर टिप्पणी करते हुए बताया है कि यह अशुद्ध है। मन और विज्ञान अर्थात् बुद्धि अन्न और प्राणमय कोषों में व्याप्त नहीं हैं। ये दोनों तो मनुष्य के मस्तिष्क की गुहा में रहती हैं। बाह्य जगत् से मन का सम्बन्ध इन्द्रियों के द्वारा होता है। बुद्धि का सम्बन्ध मन के साथ है। इस स्थान पर भी उपनिषद्कार से हमारा मतभेद है।

बाहर का ज्ञान इन्द्रियों द्वारा होता है और इन इन्द्रियों की सहायता से मन के आदेशानुसार कर्म होता है। बुद्धि विश्लेषणात्मक कला है। यह मन द्वारा प्राप्त ज्ञान पर विचार करती है और जीवात्मा को सम्मति देती है कि अमुक कार्य किया जाना चाहिए अथवा अमुक कार्य नहीं किया जाना चाहिए। यदि किया जाय तो फिर किसी दिशा में किया जाना उचित होगा।

हमने पहले भी बताया है कि कुछ भाष्यकार विज्ञानात्मा को जीवात्मा भी मानते हैं। वह भी पूर्ण शरीर में व्याप्त नहीं होता। वह भी मस्तिष्क की गुहा में ही उपस्थित रहता है। मन, बुद्धि और जीवात्मा ये तीनों ही अणु मात्र हैं।

उपनिषद्कार ने कहा है कि विज्ञानात्मा में आनन्द आ जाता है। जब आता है तो मनुष्य ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। इसका कारण यह है कि वह आनन्दमय है।

उपनिषद्कार आनन्द को परमात्मा की एक प्रकार की विभूति ही मानता है। उसका कहना है कि जब यह सूर्य पर पहुँचता है तो वह चमकने लगता है। वायु प्रवाहित होने लगता है इत्यादि। हमारा मत भी यही है। आनन्द परमात्मा के प्राण की उपस्थिति का सूचक है।

एक अन्य उपनिषद्कार इस प्राणों के शरीर को तीन अक्षरों से निर्मित मानता है। उसने कहा है कि एक ज्ञानवान है दूसरा अज्ञानी है और तीसरा जड़ है। वह अज्ञानी के भोग्यार्थ है।

वेद में भी यह कहा है कि इस शरीर में एक वृद्धत्व को प्राप्त करनेवाला अंश है। अर्थात् वह विघटित होनेवाला है। दूसरा उस विघटित में बैठा हुआ प्रकृति का भोग करता है। और तीसरा इन दोनों का पालन और रक्षा करता है।

—ऋ० वे० १-१६४-१

अर्थात् उपनिषद्कार ने जो पुरुष वर्णन किया है वह तीन ब्रह्मों का संयोग है। इस पूर्ण को ही उपनिषद्कार ने सत्य कहा है। बृहदारण्यक उपनिषद् में भी इसे सत्य माना है। अर्थात् तीनों अक्षरों के संयोग से जो बनता है, वह सत्य है। आगे कहा है कि यह जिसे ब्रह्म कहा है और जिसे तीन अक्षरों का संयोग माना गया है वह पहले तो असत् था, कालान्तर में सत् हो गया। यहाँ पर असत् से अभिप्राय अव्यक्त से है और सत् से अभिप्राय व्यक्त से है। अर्थात् जो इन्द्रियगोचर नहीं था वह इन्द्रियगोचर हो गया।

उपनिषद् की भाषा शिथिल है। जब ये दोनों शब्द जगत् के विषय में प्रयुक्त होते हैं तो वहाँ पर व्यक्त और अव्यक्त के अर्थों में ही प्रयुक्त होते हैं। भगवद्गीता अध्याय १३ श्लोक २२ में भी इन शब्दों का प्रयोग इन अर्थों में ही हुआ है।

ऋग्वेद १०-१२६-१ में भी ये असत् और सत् शब्द इन्हीं अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं।

उपनिषद् में आगे कहा है कि जो पुरुष आनन्दमय हो जाता है वह अभय हो जाता है। इस आनन्द के भय से वायु चलता है, सूर्य प्रकाशमान होता है। इसी के भय से अग्नि, इन्द्र और मृत्यु भी चलते हैं।

उसके आगे कहा है कि यह जो पुरुष में आनन्द है वही आदित्य है जिससे यह प्रभासित होता है। वह पुरुष जो इन पाँचों कोषों वाले शरीर को ब्रह्म मानता है वह पूर्ण आनन्द की ओर खिसकता है।

वह अन्नमय से प्राणमय और वहाँ से मनोमय और फिर वहाँ से प्रज्ञानमय और वहाँ से आनन्दमय की ओर खिसकता है। ध्यान रखने योग्य बात यह है कि खिसकने वाला इन कोषों से कोई भिन्न है। यही कारण है कि वह एक से दूसरे और फिर तीसरे में खिसकता हुआ आगे खिसकता जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि वह आनन्दमय से भी पृथक् है।

आगे चलकर इस खिसकने वाले के आनन्द की मात्रा में अन्तर का भी वर्णन किया है। वह यह कि वह खिसकता हुआ कितना अधिकाधिक आनन्द प्राप्त करता है। यहाँ एक बात यह विशेष कही है कि इन मात्राओं में आनन्द निष्काम कर्म करनेवाले विद्वान् को सदा प्राप्त है। यह भी कहा है कि यह आनन्द जो एक पुरुष में है, जो आदित्य में है, वह एक ही है और जो व्यक्ति यह जानता है वह लोक से निवृत्त होकर इस आनन्दमय आत्मा को प्राप्त करता है।

आनन्दमय आत्मा को प्राप्त होता है, इसका अभिप्राय यह है कि आनन्दमय परमात्मा को प्राप्त होता है।

हमारा यह निश्चित मत है कि उपनिषद्कार इन कोषों से मनुष्य शरीर में इनके स्थान के विषय में कह रहा है। किन्तु यह कथन उचित नहीं प्रतीत होता कि अन्न और प्राण के अतिरिक्त अन्य कोष अर्थात् मन, विज्ञान और आनन्द के स्थान भी पूर्ण शरीर में हैं। यह उपनिषद्कार की शिथिल भाषा के प्रयोग के कारण ही है। तदपि यह तो ठीक है कि मन, विज्ञान जिसे हम बुद्धि मानते हैं, और आनन्द परमात्मा का उनके लिए उपहार है जो उसके समीप जाते हैं। वैदिक भाषा में जो उससे जुष्ट होते हैं। वह आनन्द भी शरीर में ही एक स्थान पर विद्यमान रहता है। हमने ऊपर बताया है कि परमात्मा भी शरीर में ही विद्यमान है (अपने सात पुत्रों के साथ) अर्थात् प्राण के साथ ऋग्वेद १-१६४-१।

क्योंकि कहा है कि जो आनन्द आदित्य में है वही मनुष्य शरीर में है। इससे यह पता चलता है कि आनन्द से उपनिषद्कार का अभिप्राय परमात्मा का तेज है। यह ठीक है कि परमात्मा और परमात्मा का तेज पृथक्-पृथक् नहीं हो सकते। वे सदा एक-दूसरे के साथ रहते हैं। तो भी यहाँ यह परमात्मा के तेज का ही वर्णन है कि उससे प्राणी आनन्दित होता है। निष्काम कर्म करनेवाला विद्वान् उस आनन्द का शतप्रतिशत भोग करता है।

अन्त में कहा है कि ऐसे पुरुष की इन्द्रियों के कर्म मन तक ही पहुँचते हैं। कर्म होने के उपरान्त मन सहित लौट आते हैं। वे जीवात्मा को केवल स्पर्श मात्र करते हैं। उस पर किसी प्रकार का प्रभाव उत्पन्न नहीं करते।

भृगुवल्ली

प्रथम अनुवाक

भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार अधोहि भगवो ब्रह्मेति ।
तस्मा एतत्प्रोवाच । अन्नं प्राणं चक्षुःश्रोत्रं मनो वाचमिति । तं होवाच ।
यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसं-
विशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्मेति ॥३-१-१॥

अर्थ—वरुण के पुत्र भृगु ने अपने पिता वरुण के पास जाकर
कहा, “भगवन् ! मुझे ब्रह्म का उपदेश कीजिए ।”

तब उस पिता ने कहा, “अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और वाणी
है जिससे निश्चय से, सब प्राणी उत्पन्न होते हैं । उत्पन्न होकर
जीवित रहते हैं और अन्त में जिसमें विनष्ट होकर सब विलीन हो
जाते हैं । उसे ही विशेषरूप से जानने की इच्छा कर । वह ही ब्रह्म है ।”

विवेचना—प्रायः सब उपनिषदों की शैली है प्रश्नोत्तर-रूप में वर्णन । इस
ढंग (वार्त्तालाप अथवा प्रश्नोत्तर) का क्या लाभ था ? यह कहना कठिन है । हाँ,
इससे वल्ली का नाम रखने में सुविधा अवश्य हुई होगी ।

उपनिषद् की इस वल्ली के आरम्भ में ही हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं
कि उपनिषद् का यह भाग मनोद्गारों के प्लावन में ही वर्णन किया गया है ।
मनुष्य जब मनोद्गारों में बहने लगता है तो उसकी वाणी में समन्वय नहीं रहता ।
उसका परिणाम यह होता है कि वर्णन के मध्य में वह प्रवाह में वाक्यों को छोड़ता
चला जाता है । वाणी का सौष्ठव बुद्धि का विषय है और जो मनुष्य मनोद्गारों
द्वारा चलायमान होता है, उसका बुद्धि से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाया करता है ।

भक्तजन इसको इस रूप में न ग्रहणकर इसको ब्रह्म में तल्लीनता की संज्ञा
देते हैं । वे इसे ब्रह्मानन्द की मादकता भी कहते पाये जाते हैं । हम इसे किसी
प्रकार भी अनुचित नहीं मानते । उस व्यक्ति के लिए यह स्थिति अति सुखकारक
होती है जो इसे आनन्दमय अवस्था के रूप में स्वीकार करता है । इससे उसका

कल्याण भी होता है। वह इस ऊबड़-खाबड़ संसार के हिचकोलों को अनुभव नहीं करता।

परन्तु हम ऐसे व्यक्ति के कथन से सांसारिक जीवों की कठिनाई का भी अनुभव करते हैं। उसका कारण यह है कि प्रवचनों में जो वाक्य छूट गये हैं, उनका तारतम्य मिलाने में कठिनाई उपस्थित हो जाती है।

वैसे तो अधिकांश उपनिषदों में जो कथन छूट गये हैं उनको विभिन्न भाष्यकारों ने अपने भाष्य में अपनी मति के अनुसार तारतम्य मिलाकर ही काम चलाया है। उसी प्रकार हमने भी अपनी बुद्धि के अनुसार उन छूटे हुए अंशों का अर्थ लगाने का यत्न किया है।

हमने एक बात और भी की है कि जिसे अन्य भाष्यकारों ने न केवल विस्मृत ही कर दिया अपितु उससे अनभिज्ञता भी व्यक्त की है। हमारा अभिप्राय है विवेच्य विषय में वेद के मत की प्रतिस्थापना। हमने अपने विचार की घुरी वेद को माना है और तदनुसार हमने उपनिषद् के छूटे अंशों की पूर्ति की है।

हमारी दृष्टि में अधिकांश उपनिषदों के भाष्यकार या तो वेद-ज्ञान से विमुख हैं और यदि उनमें वेद-ज्ञान है भी तो कदाचित् वे उसको उपनिषद् से हीन मानते हैं। स्वामी शंकराचार्य ने भी ऐसा ही किया है। उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया है कि वेदादि ज्ञान सांसारिक ज्ञान के ग्रन्थ हैं। उनका सम्बन्ध कर्मकाण्ड से ही है।

किन्तु हमारी मान्यता इसके विपरीत है। उपनिषद् में स्थान-स्थान पर यह उल्लेख पाया जाता है कि यह कार्य-जगत् सत्य है। इस सत्य के ज्ञान से यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है। उससे जीव का परम कल्याण होता है।

यहाँ पर हम यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि मनोद्गारों में प्रवाहित होने के कारण ऋषि की जो वाणी छूट गई है उसकी पूर्ति का भी कोई माप दण्ड निर्धारित होना ही चाहिए।

उदाहरण के रूप में प्रस्तुत मन्त्र में ही कहा गया है—“उसके पिता ने कहा, ‘अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और वाणी है।’ इतना कहकर वाक्य अधूरा छोड़ दिया गया है। अब इसपर भाष्यकार कल्पना करने लगे कि यहाँ पर मन आदि के क्या अर्थ हो सकते हैं। तब कुछ भाष्यकारों ने तो यह कहा कि ‘ये ब्रह्म को जानने के द्वार हैं।’ हमारी मान्यता यह है कि वरुण ने अपने पुत्र से कहा, “जाओ देखो, सुनो, विचार करो, तब तुम ब्रह्म को प्राप्त कर लोगे।”

यह बात भी वही है जो अन्य भाष्यकारों द्वारा कही गई है। परन्तु उसका प्रभाव भिन्न है। हमारे कथन का तो स्पष्ट अर्थ है कि वरुण ने अपने पुत्र भृगु से कहा कि वह संसार में रहकर अपने होश हवाश ठीक रखकर जीवन व्यतीत करे तो उसको ब्रह्म की प्राप्ति हो जायेगी।

उपनिषद् के अगले वाक्य से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। इसी मन्त्र में आगे कहा है कि निश्चय से सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं और फिर मरकर उसी में विलीन हो जाते हैं। अर्थात् जगत् में ही विलीन हो जाते हैं।

प्राणी जीवित रहता है अन्न से। परन्तु मरकर वह किसमें विलीन होता है, इसे वेद ने स्पष्ट किया है। वहाँ कहा है—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ॥—यजु० ४०-१५॥

इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि जब शरीर भस्म हो जाता है तो भस्म तो बनता ही है किन्तु उसके साथ ही वायु, अनिल और अमर अंश उसमें से निकल जाया करते हैं। ये जगत् में विलीन हो जाते हैं।

वायु ईश्वरीय शक्ति है जिससे शरीर के अवयव संगठित थे। अनिल वह वायु है जिसे पवन भी कहा जाता है। वह वायु जिससे शरीर के अंग-प्रत्यंग ग्रथित थे, परमात्मा की शक्ति है, जिसे अनादि अग्नि भी कहा है।

इस अग्नि के विषय में भी वेद ने कहा है—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।

होतारं रत्नधातमम् ॥ ऋ० १-१-१॥

अर्थ—अग्नि सृष्टि रचना का यज्ञ करनेवाला 'होता' है, अपार देनेवाला रचना का ऋत्विक् (यज्ञ का प्रबन्ध करनेवाला) है, रचना से पूर्व भी हित कार्यों में लीन, जगत् के अद्भुत पदार्थों का देने वाला है। हम उसकी स्तुति करें (अर्थात् उसके गुण, कर्म, स्वभाव को जानें)।

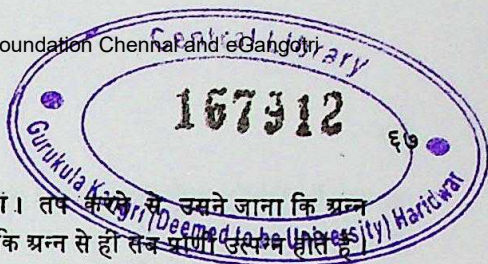
पिता ने पुत्र भृगु को कहा जाओ, आँखों से देखो, कानों से सुनो, मन से मनन करो। और वेद वाणी उसे कहती है—साथ ही अन्न है, प्राण शक्ति है, इन सब पर विचार कर उनके कार्यों पर चिन्तन करोगे तो ब्रह्म को पा जाओगे।

द्वितीय अनुवाक

स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ।

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात् । अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । अन्नेन जातानि जीवन्ति । अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय पुनरेवरुणं पितरमुपससार । अधोहि भगवो ब्रह्मेति । तं होवाच । तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति ॥ ३-२-१॥

भृगुवल्ली—२/१



अर्थ—उसने तप किया। तप करने से उसने जाना कि अन्न ब्रह्म है। उसका कारण यह है कि अन्न से ही सब प्राणी उत्पन्न होते हैं। तथा प्रयाण करते समय अन्न में ही लीन हो जाते हैं।

ऐसा जान कर वह पुनः अपने पिता वरुण के समीप आया और बोला, “पिताजी ! मुझे ब्रह्म का उपदेश कीजिये।” वरुण ने कहा, “ब्रह्म को तप के द्वारा जानने की इच्छा करो। तप ही ब्रह्म है।”

विवेचना—यहाँ पर आदेश अधूरा दिया गया है। इससे यह प्रकट होता है कि या तो भृगु वरुण की बात को समझा नहीं। वरुण का कथन स्पष्ट नहीं था। हमारा विचार है कि आनन्दातिरेक में वरुण ने अघूरी ही प्रेरणा दी। अथवा कुछ ऐसा कहा जो पुत्र की समझ में नहीं आया। भृगु इस उपनिषद् के छोटे वाक्यों की पूर्ति नहीं कर सके।

वह जो अघूरी बात थी, यह थी कि केवल तप से ही सत्य का ज्ञान नहीं होता। तप के साथ-साथ कुछ अन्य भी करणीय होता है। वरुण वह बता नहीं पाये।

योगदर्शन में तो आरम्भ में ही कहा गया है—

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥—यो० द० २-१॥

अर्थ—योग दर्शन के दूसरे अध्याय का नाम ‘साधनापाद’ है। इस अध्याय में अभ्यास करने की विधि बताई गई है। उस विधि में प्रथम बात ही यह कही गई है कि योग के व्यावहारिक अभ्यास में तप, स्वाध्याय और ईश्वर का आश्रय लेकर चलना चाहिए।

केवल मात्र तपस्या से ज्ञान प्राप्त नहीं होता। और अज्ञानी को ब्रह्म की प्राप्ति असम्भव है। स्वाध्याय अभ्यास का आवश्यक अंग है। किन्तु इसके साथ ईश्वर का सहाय्य भी चाहिए।

पिता ने यह भी कहा था कि इसी से लोग उत्पन्न होते हैं, पलते हैं और मरते हैं। वरुण का अभिप्राय यह था कि जो जगत् में पलते और मरते हैं। किन्तु पुत्र ने समझा कि अन्न से उत्पन्न होते हैं, पलते हैं और मरते हैं। इसी कारण उसने यह समझ लिया कि अन्न ब्रह्म है।

इस अस्पष्टता के आधार पर ही हमने यह कहा है कि वरुण के कथन में कुछ छूट गया है। यही कारण है कि शिष्य के यह ज्ञान लेने पर भी कि अन्न उपजाया जाता है, खाया जाता है, खाकर जिया जाता है और मरणोपरान्त अन्नमय कोष में अन्न मिल जाता है, स्पष्ट नहीं। इसको जानने के लिए रसायन शास्त्र के ज्ञान की आवश्यकता थी। अथवा यजुर्वेद के अध्याय ४० के १५वें मन्त्र के ज्ञान की आवश्यकता थी। अन्यथा मरने पर तो अन्न मिट्टी हो जाता है। वह पुनः स्वतः

ही अन्न में परिवर्तित नहीं होता। इसको जानने के लिए स्वाध्याय की आवश्यकता है।

यह कथन इस कारण भी अस्पष्ट अथवा अपूर्ण है, क्योंकि पृथिवी से अन्न अनायास ही उत्पन्न नहीं होता। जिसे उपनिषद्कार ने ब्रह्म कहा है उस अन्न को उत्पन्न करने के लिए मानव परिश्रम तथा सूर्य के सहाय्य की आवश्यकता होती है।

अन्न ब्रह्म नहीं है। ब्रह्म तीन अक्षर पदार्थों का समूह है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के अनुसार इसमें तीन ब्रह्म हैं।

अतः यह स्वाभाविक ही था कि भृगु महाराज को सन्तोष न होता। अतः वे अपने पिता के पास पुनः आये और उन्होंने अपना प्रश्न दोहराया।

पिता ने पुनः कह दिया, “तपस्या करो। तप ही ब्रह्म है।”

तृतीय अनुवाक

स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ।

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात् । प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । प्राणेन जातानि जीवन्ति । प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार । अधीहि ब्रह्मो ब्रह्मेति । तद् होवाच । तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति ॥३-३-१॥

अर्थ—उसने तप किया और तप करके यह विशेष जाना कि प्राण ही ब्रह्म है। प्राण से ही सब कुछ उत्पन्न होता है। उससे ही सब प्राणी उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न होकर उससे ही सब जीवित रहते हैं। और फिर अन्तकाल में प्राण में ही मिल जाते हैं।

ऐसा जान कर वह पुनः अपने पिता के पास आया और बोला, “भगवन् ! मुझे ब्रह्म का उपदेश कीजिये।” तब पिता ने कहा, “तपसे जानने की इच्छा करो, तप ही ब्रह्म है।”

विवेचना—ऐसा प्रतीत होता है कि भृगु ने विचार तो किया था। यही कारण था कि वे यह जान गये थे कि पहले जो उन्होंने समझा था कि अन्न ही ब्रह्म है, वह सर्वथा सत्य नहीं है। स्वाध्याय और अभ्यास के कारण ही भृगु यह जान पाये थे कि अन्न में अन्न पदार्थ के अतिरिक्त भी कुछ और है। उसने समझा कि यह प्राण है। परन्तु अन्न में प्राण कहाँ से आया और अन्य खाने पर उसमें से वह किस प्रकार विमुक्त हो कर शरीर में कार्य करने लगता है, यह वह नहीं जान पाया। अन्न को

यदि सामने चौकी पर रख दिया जाय तो उसमें से प्राण स्वयमेव विमुक्त क्यों नहीं होता ? शरीर में वह क्या वस्तु है जो अन्न में से प्राण को विमुक्त करती है ।

यदि उसने किसी वेदादि शास्त्र का अध्ययन किया होता तो वह इस समस्या को इस प्रकार समझ सकता था । अन्न से प्राण उत्पन्न हुआ । यह तो ठीक है परन्तु शरीर के भीतर भी कुछ ऐसा है जिसने अन्न में से प्राण को विमुक्त किया है । बाहर किसी वस्तु में रखा अन्न प्राण में नहीं बदल सकता ।

वास्तव में वह पुनः यही जानने के लिए आया प्रतीत होता है । परन्तु स्वाध्याय के अभाव में प्रश्न भी नहीं कर सका । उसने कहा, “भगवन् ! मुझे ब्रह्म का उपदेश कीजिये ।”

पिता ने पुत्र से कह दिया, “जाओ, तपस्या से ब्रह्म जानने की इच्छा करो ।”
प्रत्यक्षतः पुत्र असन्तुष्ट हो कर लौट गया ।

चतुर्थ अनुवाक

स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ।

मनो ब्रह्मेति व्यजानात् । मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । मनसा जातानि जीवन्ति । मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तं होवाच । तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति ॥ ३-४-१ ॥

अर्थ—तब उसने तप किया और तप करके यह जाना कि मन ही ब्रह्म है । मन से ही सब भूत उत्पन्न होते हैं । उत्पन्न होकर उससे जीते हैं और अन्त में उसमें ही लीन हो जाते हैं ।

ऐसा जानकर वह पुनः पिता के समीप आया और बोला, “भगवन् ! मुझे ब्रह्म का उपदेश दीजिये ।”

पिता ने पुनः कहा, “तपस्या से जानने की इच्छा करो । तप ही ब्रह्म है ।”

बिवेचना—अभी भी स्थिति पूर्ववत् ही है । पुत्र की शंका का समाधान नहीं हो पा रहा है । केवल तप से ही कुछ प्राप्त नहीं हो सकता । तप के साथ स्वाध्याय भी होना चाहिये । पुत्र को किसी ज्ञानवान् से उपदेश की आवश्यकता थी ।

मन क्या होता है ? जो व्यक्ति यह नहीं जानता कि अन्न से प्राण का आविर्भाव कैसे होता है ? वह कौन है जो पेट में गये अन्न से प्राण उत्पन्न करता है ? जो

इस बात को भी नहीं जान पाया, वह भला मन के विषय में क्या जान सकता है? कदाचित् उपनिषदकार भी मनुष्य में मन का कार्य नहीं समझता है। मन का कार्य अन्न में से प्राण उत्पन्न करना नहीं है। मन का कार्य मनन करना है। मन अन्न से प्राण को विमुक्त करने का साधन भी नहीं है। इसके विषय में यजुर्वेद में सम्पूर्ण एक सूक्त में वर्णन किया गया है। उस सूक्त का प्रथम मन्त्र है—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति देवं तदुमुप्तस्य तथैवेति ।

दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ यजुः ३४-१ ॥

अर्थ—मन शरीर में एक कला है जो, जब मनुष्य जागता है तो वह दूर-दूर की बातें सोचता है और जब मनुष्य सोया हुआ होता है तो वह भी सो जाता है। वह शरीर की ज्योतिषों (इन्द्रियों) में एक ज्योति है। हे परमात्मा ! मेरा मन शुभ-संकल्प (कल्पनायें) करने वाला हो।

ये मन के कार्य ही बताये हैं। इन्द्रियों में मन को बड़ी इन्द्रिय कहा गया है। सांख्य में मन को इन्द्रियों का मुखिया कहा गया है। जिस प्रकार मुखिया अपने अधीनस्थ व्यक्तियों से कार्य कराता है, उसी प्रकार मन इन्द्रियों से कार्य करवाता है। अन्न और प्राण से इसका वही सम्बन्ध है जो शरीर के किसी भी अंग का है। यह अन्न की कोई विशेष उपज नहीं है। इसकी विशेषता अन्न और प्राण से उसी प्रकार है जैसे हाथ-पांव इत्यादि की है। इसके अपने कार्य भिन्न ही हैं।

मन शरीर का एक आवश्यक अंग है। वह इसलिए क्योंकि इसका कार्य इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखना है। परन्तु यह अन्न से अधिक ब्रह्म नहीं है। जैसे अन्न में प्राण होता है वैसे ही मन में भी प्राण होता है।

मन के विषय में न तो ऐसा लगता है कि उपनिषदकार कुछ जानता है और न ही आँखें मूंद कर उसका अनुकरण करने वाले ही कुछ जानते हैं कि मन क्या है। मन के कर्म क्या हैं? मन स्वतः कार्य करता है अथवा किसी के आश्रय कार्य करता है। उपनिषद् में यह कुछ भी नहीं कहा गया।

वेद और विज्ञान दोनों ही यह बताते हैं कि अन्न में सूर्य से आई शक्ति होती है। वेद उसको ऊर्जा कहता है। (देखिये यजु० १-१)।

उस ऊर्जा अर्थात् प्राण से शरीर कार्य करता है। इसी कारण हमने कहा है कि मन का प्राण और अन्न से वही सम्बन्ध है जो शरीर के किसी अंग का इससे है।

अतः यह स्वाभाविक था कि इससे पुत्र को सन्तोष नहीं होता। इसलिए वह पुनः अपने पिता के समीप आकर कहने लगा, “भगवन् ! मुझे ब्रह्म का उपदेश दीजिये।”

पिता ने कहा, “तप से जानने की इच्छा करो। तप ही ब्रह्म है।”

पंचम अनुवाक

स तपोऽस्तप्यत । स तपस्तप्त्वा ।

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् । विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । विज्ञानेन जातानि जीवन्ति । विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तं हो वाच । तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । ५-५-१ ॥

अर्थ—उसने तप किया और तप करके जाना कि विज्ञान ब्रह्म है । निश्चय से विज्ञान से ही ये सब जीव उत्पन्न होते हैं । विज्ञान से उत्पन्न होकर उससे ही जीवित रहते हैं । और फिर अन्त काल में उसमें ही लीन हो जाते हैं ।

इतना जानकर वह पुनः पिता वरुण के पास आया और बोला,
“भगवन् ! मुझे ब्रह्म का उपदेश दीजिये ।”

वरुण ने कहा, “तप करो, उससे ब्रह्म को जानने की इच्छा करो । तप ही ब्रह्म है ।”

विवेचना—विज्ञान का अर्थ क्या है ? सामान्य भाषा में इसके अर्थ नहीं किये गये हैं । मन् शब्द वेद और दर्शन शास्त्रों में तो आया है । उपनिषद् में विज्ञान के क्या अर्थ हैं, यह स्पष्ट नहीं है । उपनिषद् के कथन से तो यही पता चलता है कि मनुष्य शरीर में एक विज्ञानमय कोप है जिसमें आनन्द आकर टिक जाता है ।

सामान्य भाषा में विज्ञान का अर्थ है ‘पदार्थ का विशेष ज्ञान ।’ अंग्रेजी में इसे ‘साइंस’ कहते हैं । परन्तु उपनिषद् का इस शब्द से यह अभिप्राय नहीं है ।

दर्शनशास्त्रों के अनुसार शरीर में प्राण शक्ति कार्य करती है । परन्तु वहाँ शरीर और प्राण पृथक्-पृथक् हैं । एक-दूसरे में कार्य करते हैं किन्तु दोनों एक नहीं हैं । यह कदाचित् उसी प्रकार है जिस प्रकार बिजली के बल्ब में तार होता है । जब उस तार में बिजली छोड़ी जाती है तो प्रकाश हो जाता है । यह सब भली-भाँति जानते हैं कि तार बिजली नहीं है । इसी प्रकार बिजली की मोटर में तारों के गुच्छे होते हैं और जब उनमें बिजली छोड़ी जाती है तो मोटर घूमने लगती है । यह भी स्पष्ट ही है कि तारों के गुच्छे बिजली नहीं हैं ।

इसी प्रकार हमने ऊपर कहा है कि परमात्मा अपने सात पुत्रों के साथ शरीर में कार्य करता है (ऋ० १-१६१-१) । वे प्राण ही हैं । प्राण शरीर और शरीर में अन्न के भोग करने वाले से पृथक् हैं । ये प्राण शरीर में अन्न के द्वारा आते हैं । अन्न प्राणों का वाहन मात्र है, वह स्वयं प्राण नहीं है ।

परन्तु विज्ञान क्या है ? भाष्यकार भी सब इस विषय में एकमत नहीं हैं । कुछ तो विज्ञान को जीवात्मा मानते हैं । वे इसको ही विज्ञानात्मा कहते हैं ।

कुछ अन्य भाष्यकार उसको बुद्धि कहते हैं। यह सब उन भाष्यकारों की कल्पना ही है। उपनिषद् में इसका अर्थ समझाने का यत्न नहीं किया गया। उदाहरण के रूप में दर्शनशास्त्र में जीवात्मा के लिंगों का वर्णन किया गया है। न्यायदर्शन १-१० में कहा है कि इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न और चेतना ये जीवात्मा के लिंग हैं। इस रूप में कहीं भी विज्ञान के गुण-कर्म आदि का वर्णन नहीं किया गया है।

विज्ञान शब्द से ज्ञान की गन्ध आती है। कदाचित् यह वह कला हो जिससे शरीर में ज्ञान अर्थात् चेतना आती है। तब यह जीवात्मा माना जायेगा। यद्यपि जीवात्मा के अन्य लिंग भी माने जाते हैं। लिंग उस गुण को कहते हैं जो लिंगी में ही पाया जाय और अन्य किसी में न पाया जाय। इससे यह कहा जा सकता है कि विज्ञान से कदाचित् उपनिषद्कार का अभिप्राय जीवात्मा ही है।

यदि ऐसा मान लिया जाय तो 'मन से विज्ञान उत्पन्न होता है' उपनिषद्कार का यह कथन अशुद्ध हो जायेगा। किसी अन्य शास्त्र में ऐसा नहीं कहा गया है। मन और बुद्धि सजातीय तो हैं, ऐसा सांख्य मानता है परन्तु एक से दूसरे की उत्पत्ति नहीं होती।

जनसामान्य को इस सब ऊहापोह का कहीं सिर-पैर समझ में नहीं आ सकता। इसी प्रकार भृगु की समझ में भी नहीं आया होगा। वह पुनः अपने पिता के समीप लौट आया और बोला...

षष्ठ अनुवाक

स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ।

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता । स य एवं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति । महान् भवति, प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान् कीर्त्या ॥३-६-१॥

अर्थ—उसने तप किया और तप करने से उसने जाना—

आनन्द ही ब्रह्म है। आनन्द से ही सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर आनन्द द्वारा ही जीवित रहते हैं और प्रयाणकाल में आनन्द में ही लीन हो जाते हैं।

यह भृगु की जानी हुई, वरुण से कही हुई विद्या परम व्योम में प्रतिष्ठित है। जो ऐसा जानता है वह उस (परमात्मा) में प्रतिष्ठित हो जाता है। वह अन्नवान् अर्थात् अन्न का बना हुआ अन्न का खाने वाला है। वह प्रजा (सन्तान) पशुओं तथा ब्रह्मतेज के कारण महान् हो जाता है। वह कीर्ति से भी महान् होता है।

विवेचना—वरुण का विज्ञान से क्या अभिप्राय था और भृगु ने विज्ञान को क्या समझा, इसका वर्णन उपनिषद् में नहीं किया गया है। ब्रह्मानन्द वल्ली में भी मन से विज्ञान की उत्पत्ति के विषय में तो कहा है परन्तु वहाँ पर भी इस विषय का स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। केवल कथन मात्र ही है।

इस विषय में प्रायः कोई भी भाष्यकार स्पष्ट नहीं कर सका कि उपनिषद् रचयिता क्या कहना चाहता है। एक भाष्यकार का तो कहना है कि यह विषय योग का है और यह शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। पातंजल योगदर्शन में भी कहीं इसका उल्लेख नहीं है कि मन से विज्ञान उत्पन्न होता है और विज्ञान से आनन्द प्राप्त होता है।

इस कारण हम समझते हैं कि उपनिषद्कार मनोद्गारों के प्लावन में कुछ कह गया है, जिसका कुछ अर्थ ही नहीं बनता।

हमने बताया है कि अन्न से प्राण नहीं बनता। हाँ, अन्न में प्राण होता है। वह सूर्य द्वारा उसमें आता है। इसी प्रकार हमने यह भी बताया है कि प्राण से मन उत्पन्न नहीं होता। हाँ, मन में प्राण वैसे ही होता है, जैसे शरीर के अन्य अंगों में प्राण होता है। परन्तु प्राण वह अंग नहीं, न ही प्राण मन है।

आनन्द के विषय में तो उपनिषद्कार ने ही यह बताया है कि आनन्द शरीर में आता है। वह सूर्य में प्रकाश उत्पन्न करता है। वही जब अन्न, प्राण, मन और विज्ञानमय कोषों में आ जाता है तो वे कोष पूर्ण-काम हो जाते हैं।

क्योंकि उपनिषद् में कुछ ऐसा भी कहा गया है जो दर्शन आदि शास्त्रों में कहे हुए से भिन्न है, इस कारण हम समझते हैं कि उपनिषद् में वह जो कुछ कहा गया है वह अशुद्ध है अथवा यह भी कह सकते हैं कि वह अपूर्ण कथन है और भ्रम उत्पन्न करने वाला है।

वेदशास्त्र आदि का इस विषय में क्या मत है वह हम इस उपनिषद् के उपसंहार में स्पष्ट करेंगे।

उपनिषद्कार का मत हम कुछ ऐसा समझ पाये हैं कि आनन्द भी एक स्थिति है। मनुष्य का मन उस विशेष स्थिति में अनुभव करने लगता है। इस स्थिति में वह स्वयं को संसार से विलग समझकर उसकी वास्तविकता को भूल जाता है। वह इसे परम ज्ञान की अवस्था समझता है और जगत् को मिथ्या समझने लगता है।

आगे के अनुवाकों में उपनिषद्कार ने उपनिषद् का सार समझाने का यत्न किया है।

सप्तम अनुवाक

अन्नं न निन्द्यात् । तदन्नम् । प्राणो वा अन्नम् । शरीरमन्नादम् । प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम् । शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नान्नो भवति । महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान् कीर्त्या ॥

३-७-१॥

अर्थ—अन्न की निन्दा न करे। यह करणीय कर्म है। प्राण ही अन्न है और शरीर अन्न खाता है। प्राण में शरीर स्थित है और शरीर में प्राण स्थित है। इस प्रकार अन्न अन्न में स्थित है। जो इस प्रकार अन्न में अन्न को प्रतिष्ठित जानता है, वह भली प्रकार स्थित हो जाता है। अन्नवान् (अन्न से बना) ही अन्न खाता है। खाकर महान् हो जाता है। सन्तान से, पशुओं से और कीर्ति से।

विवेचना—इस उपनिषद् में एक विशेष बात पाई गई है। वह यह कि उपनिषद्कार युक्ति की बात करता है। अधिकांश उपनिषद्कार तर्क अथवा युक्ति को प्रभोत्पादक समझते आये हैं।

तर्क भ्रमोत्पादक नहीं होता। तर्क प्रस्तुत करने के कुछ नियम होते हैं। यदि उन नियमों को भंग कर तर्क किया जाय तो फिर वह तर्क तर्क न रहकर कुतर्क हो जाया करता है।

तर्क के विषय में ब्रह्मसूत्र में कहा है—

तर्कप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसंगः ॥—२-१-१॥

इस सूत्र का पदच्छेद इस प्रकार है—

तर्क, अप्रतिष्ठानात्, अपि, अन्यथा, अनुमेयम्, इति, चेत्, एवम्, अपि, अविमोक्षप्रसंगः ।

अर्थात्—तर्क अर्थात् युक्ति अप्रतिष्ठित होने से अथवा अन्य प्रकार से यदि कहो तो अनुमान भी सिद्ध नहीं होगा।

अभिप्राय यह है कि तर्क का आधार प्रतिष्ठित (प्रत्यक्ष) होना चाहिये।

सांख्यदर्शन में इसका एक विख्यात उदाहरण दिया है—

अवाभुवाणामनुमानेन बोधो धूमादिभिरिव बहूनेः ॥—१-६०॥

अर्थात्—आँखों से जो न देखा जा सके, उसका अनुमान से ज्ञान हो जाता है। जैसे घुआँ-आदि देखकर अग्नि का।

घुआँ और अग्नि का सम्बन्ध सदा देखा जाता है। अर्थात् बिना अग्नि के घुआँ नहीं होता। इस कारण घुआँ देखें तो अग्नि का अनुमान (ज्ञान) हो जाता है। भले ही अग्नि न दिखाई दे।

यह है प्रतिष्ठित तर्क। यह प्रत्यक्ष देखने पर आधारित है। अब हम उपनिषद् में दिये गये तर्क पर विचार करते हैं और देखते हैं कि क्या उसका तर्क भी इसी भाँति प्रतिष्ठित है ?

उपनिषद् में कहा गया है कि शरीर अन्न खाता है। इस कारण शरीर अन्न में प्रतिष्ठित है। वस्तुस्थिति तो यह है कि शरीर में अन्न प्रतिष्ठित है।

अब विचार करना होगा कि शरीर कब बना और कैसे बना ? शरीर माता के गर्भ में अर्थात् शरीर में बनना आरम्भ होता है। इससे यह सिद्ध है कि शरीर पहले बनता है और फिर वह अन्न खाता है। अन्न से स्वतः ही शरीर नहीं बनता। यदि ऐसा होता तो किसी भी स्थान पर पड़े हुए अन्न से शरीर बनने लगता।

इस प्रकार उपनिषद्कार ने अप्रतिष्ठित तर्क प्रस्तुत किया है। उसने कुछ ऐसी बात कही है जो प्रत्यक्ष में नहीं है। शरीर हो तो वह अन्न को खायेगा और फिर उससे शरीर में वृद्धि होगी। परन्तु शरीर की विद्यमानता के बिना अन्न शरीर की वृद्धि भी नहीं कर सकता, शरीर को बनाने की बात तो दूर रही। इससे सिद्ध है कि शरीर अन्न नहीं है, यह अन्न से कुछ अधिक है।

उपनिषद् में आगे कहा गया है कि शरीर और अन्न एक-दूसरे के आश्रित होने से एक-दूसरे के अन्न हैं।

अर्थात् अन्न शरीर को खाता है। उपनिषद्कार के शरीर विज्ञान से अनभिज्ञ होने के कारण ऐसा कहा गया है। अन्न शरीर को नहीं खाता। शरीर ही अन्न को खाता है। अन्न शरीर की वृद्धि तो करता है परन्तु अन्न शरीर को नहीं खाता। हाथ पर अन्न को रखकर देखें तो विदित होगा कि वह शरीर अर्थात् हाथ को खाता है अथवा नहीं।

शरीर को अन्न नहीं अपितु शरीर द्वारा किया गया परिश्रम खाता है। परिश्रम से शरीर का क्षरण होता है और उस क्षरण की पूर्ति अन्न से होती है। यह कहा जा सकता है कि शरीर परिश्रम करता है तो उससे शरीर में ह्रास होता है। उस ह्रास की पूर्ति अन्न द्वारा होती है। इसका अर्थ यह है कि अन्न शरीर पर निर्भर नहीं वरन् शरीर अन्न पर निर्भर करता है।

हम जो अन्न खाते हैं उसमें दो पदार्थ होते हैं। एक पदार्थ है उपादान, प्रकृति का अंश। दूसरा है ऊर्जा। ऊर्जा अन्न को शरीर रूप में परिवर्तित करती है। यह ऊर्जा ही प्राण है।

इस विषय पर विस्तृत विवरण हम उपसंहार में प्रस्तुत करेंगे।

अष्टम अनुवाक

अन्नं न परिचक्षीत । तद् व्रतम् । आपो वा अन्नम् । ज्योतिरन्नादम् ।
अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम् । ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः । तदेतदन्नमन्ने
प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवा-
नन्नादो भवति । महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान्
कीर्त्या ॥३-८-१॥

अर्थ—अन्न का त्याग न करे । यह करणीय कर्म है । आपः ही
अन्न है । ज्योति अन्न खाती है । आपः में ज्योति स्थित है । और ज्योति
में आपः स्थित है । इस प्रकार यह अन्न में अन्न प्रतिष्ठित है । अन्नवान्
(अन्न से बना) अन्न खाने वाला बन जाता है । वह महान् हो जाता है ।
सन्तान से, पशुओं से । महान् कीर्ति प्राप्त करता है ।

विवेचना—उपनिषद्कार की युक्ति यह है कि जो पदार्थ अन्न से बना है, वह
ही अन्न को खाने लगता है । इससे पूर्व के मन्त्र की विवेचना करते हुए हमने यह
सिद्ध किया था कि उपनिषद्कार की यह युक्ति प्रतिष्ठित नहीं है । अर्थात् यह
प्रत्यक्षज्ञान पर आधारित नहीं है । इस कारण यह तर्क नहीं अपितु कुतर्क है ।

पूर्व-मन्त्र की विवेचना में हमने बताया था कि शरीर अन्न से बनता है ।
दूसरे शब्दों में शरीर अन्न को खाता है । परन्तु अन्न शरीर को नहीं खाता । शरीर
का ह्रास अन्न से नहीं होता अपितु शरीर द्वारा किया जाने वाला परिश्रम शरीर
का ह्रास करता है । उस प्रसंग में हमने बताया है कि उपनिषद्कार का यह तर्क
सिद्धान्तहीन है ।

इस मन्त्र में उपनिषद्कार ने एक अन्य युक्ति प्रस्तुत की है । वह भी
अप्रतिष्ठित तर्क ही है । क्योंकि वह भी सत्य ज्ञान पर आधारित नहीं है ।
उपनिषद्कार ने कहा है कि आपः ही अन्न है । ज्योति अन्न को खाता है । आपः में
ज्योति स्थित है और ज्योति में आपः स्थित है । इससे अन्न में अन्न प्रतिष्ठित है ।
अर्थात् अन्न से बना अन्न खाने वाला बन जाता है ।

उपनिषद्कार का यह कथन भी उसके अज्ञान का सूचक है । हम समझते हैं
कि उपनिषद्कार आपः के विषय में या तो पूर्णतया अनभिज्ञ है अथवा उस विषय
पर उसका ज्ञान अधूरा है । तदपि अनजाने में ही सही बात उसके मुख में प्रकट
हो गई है । उसने कहा है कि आपः में ज्योति स्थित है । इतना तो ठीक है परन्तु
ज्योति में आपः स्थित है यह पूर्णतया ठीक नहीं है ।

आपः वैदिक शब्द है। इसका निर्माण और इसके प्रकार वेद में विस्तार से वर्णन किये गये हैं। इस विषय में भी हम सप्रमाण अपने उपसंहार में वर्णन करेंगे। यहाँ इतना बता देना चाहते हैं कि आपः एक प्रकार के नहीं हैं। आपः शब्द का प्रयोग कभी भी एक वचन में नहीं होता। उसका कारण यही है कि यह एक प्रकार का नहीं अपितु अनेक प्रकार के हैं।

आपः तीन प्रकार के हैं। वेद में इनके तीन भिन्न-भिन्न नाम भी दिये हैं। वे नाम हैं मित्र, वरुण और अर्यमा अर्थात् सोम। इन तीन प्रकार के आपः में दो तो ज्योति से युक्त होते हैं, किन्तु तीसरे प्रकार का आपः ज्योति से विहीन होता है। मित्र आपः पर ऋण विद्युत का आवेश होता है और वरुण आपः पर घन विद्युत का आवेश होता है। अर्यमा आपः विद्युत अर्थात् ज्योतिर्विहीन आवेशरहित होता है। इसी कारण यह सोम भी कहा जाता है।

यह आवेशरहित आपः वस्तु का उपादान अंग होता है और मित्र अथवा वरुण ज्योतियुक्त होते हैं। इस कारण अन्न में तीनों आपः होते हैं। परन्तु ज्योतियुक्त आपः प्राण कहते हैं और ज्योतिरहित आपः अर्थात् अर्यमा अथवा सोम आपः वस्तु का उपादान अंग हैं। इस कारण अन्न-अन्न को नहीं खाता।

इसकी विस्तृत व्याख्या, वेद मन्त्रों के प्रमाण सहित हम अपने उपसंहार में करेंगे। शक्ति और अन्न भिन्न-भिन्न हैं।

उपनिषद्कार की यह युक्ति भी अप्रतिष्ठित है। अर्थात् वह वस्तुस्थिति के विपरीत है। अन्न-अन्न को नहीं खाता। अतः यह तर्क भी अप्रतिष्ठित होने से गलत है।

नवम अनुवाक

अन्नं बहु कुर्वीत। तद् व्रतम्। पृथिवी वा अन्नम्। आकाशो-
ऽन्नादः। पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः। आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता।
तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रति-
तिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्म-
वर्चसेन। महान् कीर्त्या ॥ ३-६-१ ॥

अर्थ—अन्न को बहुत करो। बहुत उत्पन्न करो। पृथिवी ही अन्न है। आकाश खाने वाला है। पृथिवी में आकाश स्थित है और आकाश में पृथिवी स्थित है। इस प्रकार अन्न में अन्न प्रतिष्ठित है। जो इस प्रकार अन्न में अन्न की स्थिति जानता है, वह भली प्रकार प्रतिष्ठित है। अन्न से बना अन्न का खाने वाला होता है। वह प्रजा,

सन्तान, पशु, घन और ब्रह्म तेज के कारण महान् हो जाता है। वह कीर्तिमान हो जाता है।

विवेचना—इस मन्त्र में यह भ्रान्ति है कि आकाश अन्न को खाने वाला है।

आकाश शब्द से दो पदार्थों का अर्थ ग्रहण किया जाता है। एक आकाश है जो व्योम में व्यापक वर्तमान है। यह व्योम परमात्मा का सूचक माना जाता है। दूसरा आकाश पंचभौतिक है। यह आकाश अन्य भूतों के साथ ग्रहणकारों से बनता है। यह वह आकाश है जो पृथिवी, जल, अग्नि, वायु के साथ बनता है। यह आकाश अन्न को नहीं खाता। और दूसरा आकाश जो व्योम में अर्थात् परमात्मा की भाँति सर्वव्यापक है वह अन्न ही नहीं अपितु सब कुछ खा जाता है। वेद में स्वयं ही उसे अन्न कहा है। वह इस कार्य-जगत् का अन्न है। परन्तु वह पृथिवी पर नहीं है, वह तो सर्वव्यापक है।

इस विषय पर यहाँ इतना बताना ही पर्याप्त होगा कि इस सर्वव्यापक अन्न का खानेवाला अन्न ही नहीं बरन् सब को खाता है। परमात्मा की अनादि शक्ति अन्न को ही नहीं खाती। अन्न खाया जाता है किसी अन्य से।

इस विषय पर भी प्रमाण सहित व्याख्या हम अपने उपसंहार में करेंगे।

दशम अनुवाक

न कंचन वसतो प्रत्याचक्षीत। तद् व्रतम्। तस्माद्यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात्। आराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते। एतद्वै मुखतोऽन्नं, राद्धम्। मुखतोऽस्मा अन्नं राध्यते। एतद्वै मध्यतोऽन्नं, राद्धम्। मध्यतोऽस्मा अन्नं राध्यते। एतद्वा अन्ततोऽन्नं, राद्धम्। अन्ततोऽस्मा अन्नं राध्यते ॥ ३-१०-१ ॥

अर्थ—अपने यहाँ अतिथि का किसी का भी परित्याग न करो। यह करणीय कर्म है। इसलिए किसी न किसी प्रकार बहुत अन्न प्राप्त करो। यह मेरी आराधना है। इसी अतिथि के लिए मैंने अन्न प्राप्त किया। इस प्रकार जो मनुष्य मुख्य रूप में अन्न से भी आराधना किया जाता है जो मध्यवृत्ति से (दूसरे दर्जे में) अन्न की आराधना करता है (अर्थात् अतिथि के लिए अन्न प्राप्त करना दूसरे दर्जे का काम मानता है) वह अन्न से भी दूसरे दर्जे पर आराधना किया जाता है। और जो अतिथि के लिए अन्न प्राप्त करना अन्तिम कार्य मानता है, अन्न भी उसकी पालना अन्तिम कार्य समझता है।

य एवं वेद । क्षेम इति वाचि । योगक्षेम इति प्राणापानयोः । कर्मेति हस्तयोः । गतिरिति पादयोः । विमुक्तिरिति पायो । इति मानुषीः समाज्ञाः । अथ दैवीः । तृप्तिरिति वृष्टौ । बलमिति विद्युति ॥ ३-१०-२ ॥

अर्थ—जो इस प्रकार जानता है उसको पूर्वोक्त क्षेम प्राप्त होता है । योग और क्षेम प्राण और अपान हैं । हाथ कर्म करते हैं । पाँव चलते हैं । मलमूत्र का त्याग होता है । यह मनुष्य सम्बन्धी विधि विधान है । वृष्टि से तृप्ति तथा विद्युत से बल—ये दैवी विधि विधान हैं ।

यश इति पशुषु ज्योतिरिति नक्षत्रेषु । प्रजातिरमृतमानन्द इत्युपस्थे । सर्वमित्याकाशे ॥ ३-१०-३ ॥

अर्थ—पशु पालने में यश, नक्षत्रों में प्रकाश, सन्तान से अमरता (सन्तान सूत्र से वंश की रक्षा) आनन्द के लिए उपस्थ में (भोग में) सबकुछ आकाश में है । इनको प्राप्त करे ।

तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत । प्रतिष्ठावान् भवति । तन्मह इत्युपासीत । महान् भवति ॥ ३-१०-४ ॥

अर्थ—उपरि वर्णित की उपासना से तो उपासक प्रतिष्ठावान् होता है । उस महा की उपासना करें । (व्याहृतियों में महा को परमात्मा का तेज भी कहा है ।) उसी से उपासक महान् होता है । (वह मन है । इस प्रकार उपासना करने से वह मानव प्रतिष्ठावान् होता है ।)

तन्मन इत्युपासीत । मानवान् भवति । तन्नम इत्युपासीत । नम्यन्तेऽस्मै कामाः । तद् ब्रह्मेत्युपासीत । ब्रह्मवान् भवति । तद् ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत । पर्येण अग्र्यन्ते द्विषन्तः सपत्नाः । परियेऽग्रिया भ्रातृव्याः । स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः ॥ ३-१०-५ ॥

अर्थ—वह नमः (नमस्कार) योग्य है । इस भाव से उसकी उपासना करें । इससे सम्पूर्ण काम्य पदार्थ उसको नमस्कार करने

लगेंगे। वह ब्रह्म है इस प्रकार उसकी उपासना करें। इससे वह ब्रह्म में विश्वास करने वाला होता है। वह ब्रह्म का प्रलय रूप है। इस प्रकार उसकी उपासना करें। इससे उससे द्वेष करने वाले नाश को प्राप्त होते हैं। तथा जो द्वेष करनेवाले होते हैं वे भी नाश को प्राप्त होते हैं, वह जो पुरुष में है और जो आदित्य में है, एह एक है।

विवेचना—इस अनुवाक में अन्न की महिमा का गान किया गया है। इसलिए यह मानना चाहिए कि यह गृहस्थ के लिए ही कहा गया है कि गृहस्थ को पर्याप्त मात्रा में अन्न का संचय करना चाहिए। घर में किसी भी अतिथि का (बिना सूचना आये का) तिरस्कार न करे। अतिथि को प्रथम स्थान दे। जो ऐसा करता है, अन्न भी उसको प्रथम स्थान देता है। जो गृहस्थ अतिथि को दूसरा अथवा तीसरा स्थान देता है, वह स्वयं भी अन्न द्वारा दूसरा अथवा तीसरा स्थान प्राप्त करता है।

यह सब उचित ही कहा है। परन्तु इस सब निष्कर्ष के लिए उपनिषद् का पूर्ण वाक्जाल तानने की आवश्यकता नहीं थी। वेद में तो इसका वर्णन अत्यन्त सरल भाषा में किया गया है। इसका उल्लेख हम उपसंहार में करेंगे।

इस अनुवाक के मन्त्र संख्या पाँच में जो यह कहा है कि परमात्मा जो पुरुष में है वही आदित्य में है, वह ठीक ही कहा है।

परन्तु इससे यह कैसे सिद्ध हो गया कि पुरुष और आदित्य एक ही हैं? कोई कहता है कि जो जल घट में है वही इस कटोरे में है, यह तो ठीक हो सकता है, परन्तु इससे घट और कटोरा एक सिद्ध नहीं हो सकते।

स य एवंवित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य।
एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं
विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य। इमां-
ल्लोकान्कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन्। एतत्साम गायन्नास्ते। हा ३ बु
हा ३ बु हा ३ बु ॥ ३-१०-६ ॥

अर्थ—वह जो इस प्रकार जाननेवाला है वह इस लोक से निवृत्त होकर इस अन्नमय आत्मा की ओर खिसकता है। यहाँ से वह विज्ञानमय आत्मा की ओर खिसकता है। वहाँ से वह आनन्दमय आत्मा की ओर संक्रमण करता है। ऐसे पुरुष लोक की सब कामनाओं को प्राप्त करता हुआ साम गान करता हुआ हा ३ बु हा ३ बु हा ३ बु।

अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः ।
 अहं श्लोक कृदहं श्लोककृदहं श्लोककृत् । अहमस्मि प्रथमजा
 ऋताऽस्य । पूर्वं देवेभ्यो ऽमृतं नाऽभायि । यो मा ददाति स इदेव
 मा ऽवाः । अहमन्नमन्नमदन्तमाऽदिम् । अहं विश्वं भुवनमभ्यभवा-
 ऽम् । सुवर्नं ज्योतीः । य एवं वेद । इत्युपनिषत् ॥३-१०-७॥

अर्थ—मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ । मैं ही अन्न खानेवाला
 भोक्ता हूँ, भोक्ता हूँ, भोक्ता हूँ । मैं ही संयोग कर्ता हूँ, संयोग कर्ता हूँ,
 संयोग कर्ता हूँ । मैं ऋत की प्रथम उपज हूँ, देवताओं से अमृत का केन्द्र
 हूँ । जो मुझ अन्न रूप को अन्नार्थियों को देता है वह ऐसा करता हुआ
 मेरी रक्षा करता है । जो मुझ अन्न स्वरूप का दान नहीं करता और
 स्वयं भोग करता है उसे मैं अन्न रूप से भक्षण करता हूँ । मैं इस पूर्ण
 भुवन का प्रलय करता हूँ । मैं ज्योतिस्वरूप हूँ । जो ऐसा जानता है
 वह यथार्थ रहस्य को जानता है ।

विवेचना—जैसा कि हम पहले ही कह आये हैं कि उपनिषद्कार अपने
 मनोद्गारों के प्लावन में प्रवाहित होता हुआ प्रवचन कर रहा है । ऐसे व्यक्ति को
 यह स्मरण नहीं रहता कि इससे पूर्व वह क्या कह चुका है । इस प्रकार उसके पूर्ण
 कथन में कहीं भी तर्क अथवा युक्ति का भास नहीं है ।

जब ऐसा व्यक्ति ब्रह्मलीन होने के विचार से एक बार विख्यात हो जाय तो
 फिर उसके कथनों की परीक्षा की भी आवश्यकता नहीं रह जाती । उन्हें आँख
 मूँदकर स्वीकार कर लेना चाहिए । ऐसा भक्तजनों का कथन है ।

बुद्धिशील व्यक्ति इस कथन को स्वीकार नहीं कर सकता । वह तो परमात्मा
 के अस्तित्व को भी बुद्धि की कसौटी पर कसे बिना स्वीकार नहीं करता । तब
 फिर उपनिषद्कार की गणना ही क्या है ।

उपरिलिखित मन्त्रों में जो परस्पर विरोधाभास है तथा उनमें क्या कुछ
 अयुक्तिसंगत है वह हम यहाँ पर बताने का यत्न कर रहे हैं । मन्त्र संख्या छः में
 कहा है—

“वह जो इस प्रकार अन्नमय आत्मा में संक्रमण करता है ।” संक्रमण का
 अभिप्रायः खिसक कर जाना है । उससे आगे फिर कहा है कि वह अन्नमय आत्मा
 से खिसककर प्राणमय में जाता है, इसी प्रकार संक्रमण करता हुआ वह अन्न में
 आनन्दमय में पहुँच जाता है ।

इस विषय में हमारा प्रश्न है कि जो संक्रमण करता हुआ आनन्दमय कोष
 अथवा आत्मा में पहुँच जाता है वह कौन है ? इसमें तो सन्देह नहीं कि वह संक्रमण
 करनेवाला न तो अन्नमय आत्मा है, न प्राणमय आत्मा है, न ही वह मनोमय आत्मा

है, न विज्ञानमय और न ही आनन्दमय आत्मा है। संक्रमण करनेवाला इन सब से पृथक् है। तभी तो वह संक्रमण करता हुआ एक से दूसरे आत्मा में जाता रहता है।

यदि यह मान भी लिया जाय कि अन्नमय ही प्राणमय हो जाता है और प्राणमय ही मनोमय तथा विज्ञानमय और आनन्दमय हो जाता है तो भी उपनिषद्कार ने यह तो स्वीकार किया है कि जो संक्रमण करता है वह इनसे सर्वथा भिन्न है।

हम यह पहले ही बता चुके हैं कि अन्न प्राण इत्यादि भिन्न-भिन्न हैं। ये एक दूसरे से बनते भी नहीं। इस विषय में हम अपनी व्याख्या उपसंहार में प्रस्तुत करेंगे। परन्तु उपनिषद्कार ने यह स्वयं स्वीकार किया है कि इन कोषों में संक्रमण करने वाला इनसे कोई पृथक् ही है। वह परमात्मा भी नहीं हो सकता क्योंकि परमात्मा तो सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है। उसे एक कोष से दूसरे कोष में संक्रमण करने की आवश्यकता नहीं है।

उसके बाद उपनिषद्कार कहता है कि मैं अन्न हूँ, अन्न भोग करने वाला हूँ, मैं इस लोक का संयोग करनेवाला हूँ इत्यादि।

प्रश्न यह है कि वह अन्न से प्राण, प्राण से मन आदि में संक्रमण करने वाला कौन था ?

यह सब न समझ में आने वाला है। अधिक-से-अधिक हम यही कह सकते हैं कि उपनिषद्कार भावावेश में कुछ कह गया है जो वह स्वयं भी समझता नहीं है।

वस्तुस्थिति क्या है, वह हम वेदादि शास्त्रों के प्रमाणों से सिद्ध करने का यत्न करेंगे।

एक बात तो निर्विवाद है कि वेद का प्रमाण हम भृगु और वरुण की अपेक्षा अधिक माननीय समझते हैं।

वेद को भी हम तर्क (प्रतिष्ठित तर्क) से स्वीकार करने योग्य मानते हैं।

निरुक्ताचार्य यास्क से प्रश्न किया गया, “जब ऋषिजनों का अन्त हो जायेगा तो फिर हमको वेदार्थ कौन बतायेगा ?”

तब यास्क ने उत्तर दिया, “वेदार्थ के समझाने वालों के चले जाने के उपरान्त तर्क (प्रतिष्ठित तर्क) है जो हमारे लिये वेदार्थ स्पष्ट करेगा ॥ नि० १३-१२॥

उपसंहार

: १ :

उपनिषद् की शिक्षा वल्ली का सारांश और उस पर अपना मत हम यथास्थान वर्णन कर आये हैं। इसी प्रकार ब्रह्मानन्द वल्ली पर भी हमने विवेचना की है। भृगुवल्ली वास्तव में ब्रह्मानन्द वल्ली की पुनरावृत्ति ही है। इसमें बहुत कम मन्त्र ऐसे हैं जिनको निर्विवाद रूप में स्वीकार किया जा सकता है। वे मन्त्र हैं अन्न की महिमा तथा अतिथि के लिए अन्न संचय करने से सम्बन्धित। उन मन्त्रों को छोड़ कर शेष पूर्ण ब्रह्मानन्द वल्ली और भृगु वल्ली वेदार्थों से अनभिज्ञ किसी व्यक्ति द्वारा वर्णित लगती है। हमने यथास्थान उनके कथन में परस्पर विरोधाभास तथा उनका तर्क-विरुद्ध होना सिद्ध किया है।

उपनिषद् की ये दोनों वल्लियाँ अद्वैतमतावलम्बियों के आश्रय-स्थल हैं। यों तो गौड़पादाचार्य के मतानुसार माण्डूक्योपनिषद् भी अद्वैतवाद का ही समर्थक है। परन्तु माण्डूक्योपनिषद् का भाष्य करते हुए हमने बताया है कि उसका उद्देश्य इससे सर्वथा भिन्न है। उसमें इस बात का कहीं समर्थन नहीं प्राप्त होता कि 'सब कुछ ब्रह्म ही है।'।

इसी प्रकार इस उपनिषद् के विषय में भी अपनी आपत्ति का उल्लेख हम अपनी विवेचना में कर चुके हैं।

यहाँ पर तो हम सृष्टि के विषय में वेदादि शास्त्रों का मत और तर्क संगत मत का वर्णन करना चाहते हैं।

सर्वप्रथम हम वेदादि शास्त्रों का ही मत वर्णन करेंगे।

सृष्टि रचना से पूर्व की अवस्था

वेद का मत है कि वर्तमान जगत् की रचना से पूर्व भी यहाँ कुछ था। इस विषय में ऋग्वेद १०-१२६-२ में इस प्रकार कहा है—

न सृत्पुरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्ना आसीत्प्रकेतः।

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥

अर्थ—न वहाँ (रचना से पूर्व) मृत्यु थी, न अमरता अर्थात् जीवन था। इसका अभिप्राय यह है कि वहाँ कुछ टूट-फूट नहीं रहा था, न ही कुछ बन रहा था, वहाँ दिन और रात नहीं हो रहे थे। वहाँ (एक) आनीदवात था। आनीद का अर्थ है शक्ति और अवात का अर्थ है गतिरहित। गतिरहित शक्ति थी। इसे वर्तमान वैज्ञानिक energy in potential form कहते हैं। उस समय वहाँ एक अन्य पदार्थ था। वह स्वधा थी। स्वधा का अभिप्राय है जो अपने आप में स्थिर थी। यह प्रकृति थी।

कुछ वर्तमान वैज्ञानिक प्रकृति के होने का स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं कि यह जगत् शून्य से बना है। कुछ वर्तमान वैज्ञानिक यह तो स्वीकार करते हैं कि यहाँ इससे पूर्व कुछ था, परन्तु वे कहते हैं कि उससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। हमारा सम्बन्ध तो केवल वर्तमान से है।

वेद की मान्यता यह नहीं है। वेद की मान्यता है कि जगत् की रचना से पूर्व भी कुछ था। उपरिलिखित मन्त्र में दो बातों का वर्णन किया है। एक 'आनीदवात' और दूसरा 'स्वधा।' स्वधा को प्रकृति कहा है। इसे matter in original form भी कहते हैं। इसे ही primordial matter भी कहते हैं। वेद यह भी मानता है कि इस प्रकृति से हमारा रात-दिन वास्ता पड़ता है। वह कैसे? इस विषय में हम आगे चल कर बतायेंगे। परन्तु वेद ने यह भी कहा है कि रचना के समय यह प्रकृति अपना स्वरूप बदलती है। वह अपना स्वरूप किस प्रकार बदलती है इस विषय में ऋग्वेद में एक सूक्त है। उसमें बताया गया है कि प्रकृति किस प्रकार अपना स्वरूप बदलती है। वेद मन्त्र इस प्रकार है—

यदक्रन्दः प्रथमं जायमान उद्यन्तमुद्रादुत वा पुरीषात् ।

श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू उपस्तुत्यं महि जातं ते अर्वन् ॥

—ऋ० १-१६३-१

अर्थ—हे अर्वन् ! जब सर्वप्रथम प्रकट हुआ तो तुमने बहुत नाद (शोर) किया। तुम बहुत वेग से ऊपर अन्तरिक्ष में उठे और फैल गये। तुम महान् स्तुति के योग्य थे।

अर्वन् क्या है? इसके शाब्दिक अर्थ हैं अश्व। वैदिक भाषा में अश्व उस साधन को कहते हैं जो कार्य को रथ की भाँति चलाये। यहाँ रथ है रचना-कार्य और इसको चलाने के लिए यह अर्वा प्रकट हुआ।

इससे पूर्व ऊपर (ऋ० १-१२६-२ में) यह बताया गया है कि रचना से पूर्व जब न कुछ बन रहा था, न ही कुछ टूट-फूट रहा था तब यहाँ एक 'आनीदवात' था। वहाँ हमने इसके अर्थ अचलायमान शक्ति बताया है। इस मन्त्र में इसी को अर्वा कहा है। यहाँ इसको अर्वा नाम इस कारण दिया है क्योंकि वह 'आनीदवात' सृष्टि रचना के कार्य को चलाने वाला है, जैसे अश्व रथ को चलाता है।

पहले यह अवातं था अर्थात् निश्चल potential form में था। अब यह कार्य करने के लिए प्रकट हुआ। इसने क्या कार्य किया, इसका वर्णन अगले मन्त्र में किया गया है। कार्य करने से इसका नाम अर्धः अर्थात् अर्ध पड़ा।

यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एणं प्रथमो अर्धप्रतिष्ठत।

गन्धर्वो अस्य रशनामगृष्णात् सुरादश्वं वसवो निरतष्ठ।।

—ऋ० १-१६३-२

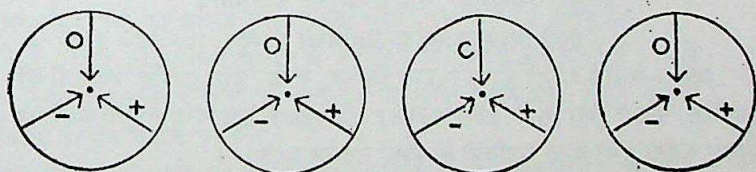
अर्थ—नियमन करने वाले परमात्मा ने त्रित पर यह लगाम दी। इस (त्रित) में पहले इन्द्र बैठा था, वह प्रकट हुआ। गन्धर्व, लगाम से नियन्त्रित चित ने इस लगाम को स्वीकार कर लिया। बलवान लगाम को परमाणुओं ने स्वीकार किया तो रचना कार्य आरम्भ हो गया।

त्रित का अभिप्राय है प्रकृति के परमाणु का आदि रूप। आदिरूप से अभिप्राय है, परमाणु का वह स्वरूप जो रचना आरम्भ से पूर्व था। इस रूप को सांख्यदर्शन में इस प्रकार वर्णन किया है—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः॥—सां० १-६१

अर्थ—प्रकृति का प्रत्येक परमाणु तीन शक्तियों की सन्तुलित अवस्था है। सत्त्व, रजस, तमस् तीनों शक्तियों की सन्तुलित अवस्था का नाम प्रकृति है।

सत्त्व को आजकल की भाषा में धन (positive) शक्ति कहते हैं। रजस् को ऋण (negative) शक्ति कहते हैं और तमस् को सोम अथवा शान्त (neutral) कहते हैं। इनको '+', '—', '०' चिह्नों से प्रकट किया जाता है। अतः एक साम्यावस्था में परमाणु को इस प्रकार चित्रित किया जा सकता है—

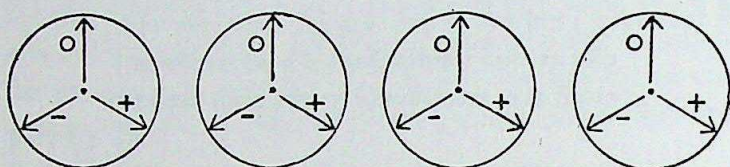


इसमें तीर के चिह्न शक्ति की दिशा की ओर संकेत करते हैं। तीनों शक्तियाँ केन्द्र में परस्पर निस्तेज होती दिखाई गई हैं।

प्रकृति के परमाणु को वेद में त्रित कहा है। वह इस कारण क्योंकि यह तीन शक्तियों का समूह है। यह तीन शक्तियों का समूह ही इन्द्र कहा जाता है। इस मन्त्र में कहा है कि इन्द्र परमाणु के भीतर बैठा था, उसको ही हमने ऊपर के चित्र द्वारा स्पष्ट किया है।

जब उनको लगाम लगा तो फिर शक्तियों का मुख परिवर्तित हो गया। तब

वे शक्तियाँ बहिर्मुख हो गईं। उस स्थिति में उनका चित्र इस प्रकार हो जायेगा—



ऐसा होने पर क्या हुआ ? उसका वर्णन अगले मन्त्र में किया गया है—

असि यमो अस्यादित्यो अर्वन्नसि त्रितो गुह्येन व्रतेन ।

असि सोमेन समया विपुवत आहुस्ते त्रीणि दिवि बन्धनानि ॥

—ऋ० १-१६३-३

अर्थ—हे अर्वन् ! तू यम है, तू प्रकाशस्वरूप है। एक छिपे हुए कर्म से त्रित है। वह सोम अवस्था से फटकर असाम्यावस्था में हो गया। यह कहा जाता है कि तीन दिव्य निबन्धन (परमाणुओं के संयोग) बन गये।

अर्वा अर्थात् सजग हुई शक्ति का परमाणु पर लगाम बन जाने से परमाणु की तीन संतुलित शक्तियाँ फट गईं अर्थात् असंतुलित हो गईं। हमने ऊपर चित्र में दिखाया है कि बहिर्मुख हो गईं। शक्तियाँ बहिर्मुख होने से आस-पास के परमाणुओं को आकर्षित-विकर्षित करने लगीं। विपरीत आवेश (charge) वाली शक्तियाँ परस्पर आकर्षण करने लगीं और समान आवेश वाली शक्तियाँ परस्पर अनाकर्षण करने लगीं।

इस घटना का वर्णन ऋग्वेद में एक अन्य स्थान पर इस प्रकार किया है—

पुरां भिन्दुर्युवा कविरमितोजा अजायत ।

इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्तावज्जी पुरुष्टुतः ॥—ऋ० १-११-४

अर्थ—असीम ओजों वाला विद्वान् मिश्रण करता हुआ अर्थात् शक्तियों को संतुलित करता हुआ पुरों (परमाणुओं) को फोड़ता हुआ इन्द्र सम्पूर्ण कर्मों को धारण करता हुआ बहुत स्तुतियों के योग्य उत्पन्न हुआ।

यहाँ परमाणु को पुर कहा है। पुर कहते हैं वह स्थान जिसमें कोई पुरुष रहता है। पौरुषवान् इन्द्र परमाणुओं में रहता है। इस कारण परमाणु पुर कहा गया है।

इसी सूक्त का अगला मन्त्र इस प्रकार है—

त्वं नलस्य गोमतो ऽपावराद्विवो बिलम् ।

त्वां देवा अबिभ्युषस्तुज्यमानास आविषुः ॥—ऋ० १-११-५

अर्थ—हे वज्रधारी (इन्द्र) ! तुम रश्मियों से युक्त होकर बल से बिल को खोल देते हो। तब (वे) परमाणु अपनी कक्षा में विचरण करते हुए देवतागण भय-रहित हो जाते हैं।

ऊपर जो ऋग्वेद के मन्त्र १-१६३-२ में कहा था कि परमाणु में इन्द्र प्रतिष्ठित

था, उसी के विषय में यहाँ कहा है कि वह परमाणु में बैठा था और उसको फोड़कर बाहर हो गया ।

उससे अगले मन्त्र में कहा है कि जब परमाणु पर अर्धः का लगाम लगा (इसका अभिप्राय है कि जब परमात्मा का ओज परमाणु पर लगाम की भाँति आरूढ़ हुआ) तो इन्द्र उस पुर को फोड़ करके बाहर आ गया । ऋग्वेद के इस सूक्त में कहा है कि परमाणु की साम्यावस्था फट जाती है और इन्द्र बाहर हो जाता है ।

हमने बताया है कि इन्द्र अपनी रश्मियों के साथ बाहर आता है । उसकी रश्मियों के विषय में सांख्यदर्शन में जो कुछ वर्णन किया गया है, वह भी हम ऊपर लिख आये हैं । वह यह कि परमाणु तीन शक्तियों की साम्यावस्था अर्थात् संतुलित अवस्था होती है । उन शक्तियों को सत्त्व, रजस्, तमस् कहते हैं । यही इन्द्र की रश्मियाँ हैं जिनके साथ वह परमाणु से बाहर आया ।

समान आवेश (charge) की शक्तियाँ परस्पर अनाकर्षण करती हैं और विपरीत आवेश की शक्तियाँ परस्पर आकर्षण करती हैं । इसके परिणामस्वरूप परमाणुओं के संयोग (groups) बनने लगते हैं । इनको वेद में निबन्धन कहा है । वेदमन्त्र है—

त्रीणि त आहुर्विवि बन्धनानि त्रीण्यप्सु त्रीण्यन्तः समुद्रे ।

उतेव मे वरुणश्छन्त्यर्वन् यत्रा त आहुः परमं जनित्रम् ॥

—ऋ० १-१६३-४

अर्थ—यह कहा जाता है कि तीन निबन्धन द्युलोक में, वही तीन आपः अन्तरिक्ष में बनते हैं । और हे अर्वन् ! तू वरुण द्वारा मेरे लिये छन्द कहता है । यह भी कहते हैं कि ये तीन आपः सब जगत् को बनाते हैं ।

मन्त्र में 'परमं' का अभिप्राय परम ब्रह्म अर्थात् पूर्ण चराचर जगत् है ।

ये तीन आपः ही वर्तमान विज्ञान में 'एटामिक पार्टिकल्स' कहे जाते हैं । उनसे ही पूर्ण जगत् के पदार्थ निमित्त माने जाते हैं । इन आपः से सब ज्ञात ऐटम बने हैं और उनसे ही सब पदार्थ बनते हैं ।

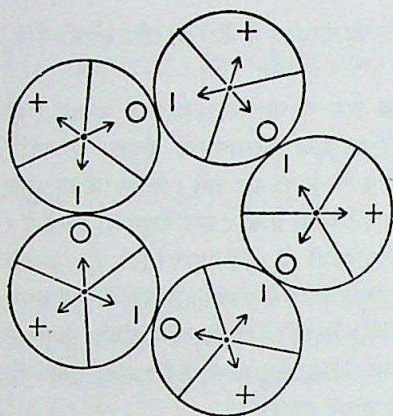
इस अध्याय में हमने यह बताया है कि रचना से पूर्व प्रकृति तमोभूत थी । प्रकृति के विषय में भी वेद की एक ऋचा इस प्रकार है—

तम आसीत्तमसा गुळहमग्रे ऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।

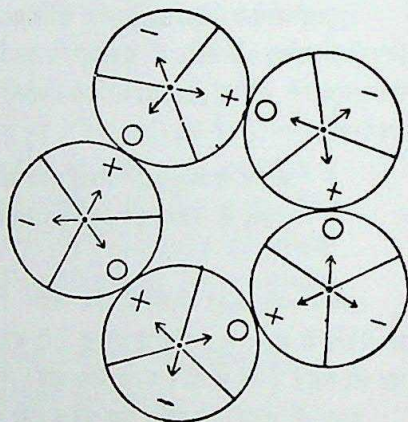
तुच्छयेनाभवपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतंकम् ॥

—ऋ० १०-१२६-३

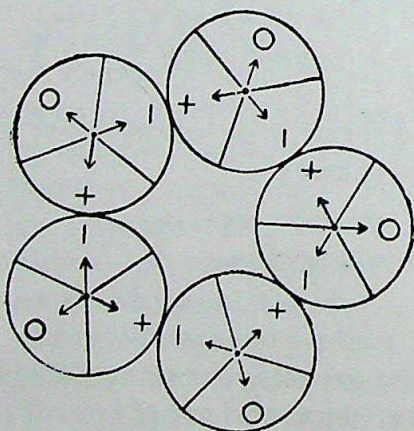
अर्थ—सृष्टि रचना से पूर्व प्रकृति अन्धकार से आच्छादित थी । सब कुछ प्रत्यक्ष अर्थात् प्रकट नहीं था । वह सलिल अवस्था में थी । व्यापक प्रकृति अति सूक्ष्म अवस्था में थी । तब तेज (अर्थात् परमात्मा की शक्ति) प्रकट हुई ।



चित्र १



चित्र २



चित्र ३

प्रकृति की यह अवस्था अति सूक्ष्म कणों में और सलिल थी। सलिल का अभिप्राय है वह जाने वाली। जैसे रेत के कण परस्पर असम्बद्ध होने के कारण वह जाते हैं।

इस अवस्था में वह शक्ति जो अचलायमान (in potential form) कही गई है, वह एकाएक चलायमान हो गई। और बहुत नाद करती हुई अन्तरिक्ष में फैल गई। तब वह परमाणुओं पर लगाम की भाँति आरुढ़ हो गई।

इस शक्ति को तेज भी कहा है, अग्नि भी कहा है। इसे अश्व तथा अर्बुः भी कहा है। यह जब लगाम की भाँति परमाणु पर आरुढ़ हो जाती है तो परमाणुओं में सत्त्व, रजस् और तमस् शक्तियाँ असाम्यावस्था में हो जाती हैं और ये शक्तियाँ बाहर को मुख कर लेती हैं। इससे परमाणुओं के निवन्धन बन जाते हैं।

ये सत्त्व, रजस् और तमस् शक्तियाँ इन्द्र कही गई हैं। निवन्धन जो इन शक्तियों से बनते हैं वे आपः कहे जाते हैं। ये तीन प्रकार के हैं। इनको वर्तमान विज्ञान में ऐटामिक पार्टिकल्स कहते हैं। इन आपः (atomic particles) से ही ऐटम बनते हैं। वे कैसे बनते हैं, इसकी व्याख्या भी वेद में की गई है। वह हम उपसंहार की द्वितीय कण्डिका में वर्णन करेंगे।

: २ :

प्रथम कण्डिका में हमने बताया है कि जब इन्द्र बहिर्मुख हो जाता है तब इन्द्र की तीन रश्मियाँ, एक धन आवेश वाली, दूसरी ऋण आवेश वाली और तीसरी आवेशरहित जिसे शून्य कहा है, प्रत्यक्ष हो जाती हैं। इन शक्तियों के आकर्षण और अनाकर्षण से परमाणुओं के संयोग बनते हैं जिनको आपः कहा है।

वहाँ यह भी कहा है कि आपः तीन प्रकार के बनते हैं। वे इन परमाणुओं के संयोग से किस प्रकार बनते हैं यह हम सामने के पृष्ठ पर दिये चित्रों द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं।

इस चित्र में दिखाया गया है कि विपरीत आवेश वाले परमाणुओं के कण आकर्षित हो संयुक्त हो जाते हैं। और समान आवेश वाले परमाणुओं के कण दूर-दूर हट जाते हैं। इस प्रक्रिया में एक प्रकार के संयोग बनते हैं जिन पर शेष आवेश धन है। (चित्र-१) दूसरे परमाणुओं के संयोग हैं जिन पर शेष आवेश ऋण है। (चित्र-२) और तीसरी प्रकार के संयोग हैं जिनपर शेष आवेश शून्य है। (चित्र-३) ये प्रकृति के परमाणुओं के संयोग (atomic particles) ही हैं। अभिप्राय यह कि इन्द्र के बहिर्मुख होने पर परमाणुओं के ही तीन प्रकार के संयोग बन गये हैं। इन्हीं के विषय में निम्नलिखित वेद मन्त्र में कहा है—

प्र मु ज्येष्ठ निचराभ्यां बृहन्नमो हव्यं माँति भरता मृळयद्भ्यां स्वादिष्ठं
मृळयद्भ्याम्।

ता सन्नाजा घृतासुती यज्ञेयज्ञ उपस्तुता ।

अर्थ—क्षत्रं कुतश्चनाघृषे देवत्वं नू चिदाघृषे ॥ — ऋ० १-१३६-१॥

अर्थ—बहुत बड़े स्वादिष्ट अन्न की हवि देने की बुद्धि को दो प्राचीन सुख-कारिकों के लिए धारण करो (प्रकृति धारण करे) ।

मन्त्र के देवता मित्र और वरुण हैं । अतः यहाँ पर दो से अभिप्राय उनसे ही है । बहुत बड़े अन्न भण्डार में से हवि का अभिप्राय है परमाणुओं के भण्डार में से मित्र वरुण को मिले ।

मन्त्र में आगे कहा गया है—ये दोनों चमकते हुए घृत में सने हुए (जैसे समिधा घी में सनी हुई हो) प्रत्येक यज्ञ (सृष्टि-रचना) कार्य में स्तुति किये हुए हैं ।

मन्त्र में आगे कहा है—और इन दोनों (मित्र और वरुण) के बल और देवत्व (दिव्य कर्म) को कहीं से भी नहीं दबाया जा सकता ।

मन्त्र का अभिप्राय यह है कि प्रकृति के परमाणुओं का जो महान् भण्डार है वह मित्र और वरुण के लिए अन्न है । ये मित्र और वरुण अति बलशाली और दिव्य कर्म करने वाले हैं । इनके रचना-कार्य को कोई नहीं रोक सकता ।

अगले मन्त्र में यह स्पष्ट किया गया है कि ये मित्र और वरुण क्या हैं ।

इसी सूक्त का अगला मन्त्र है—

अर्वाक्ष गातुररवे वरीयसी पन्था ऋतस्य समयंस्त रश्मिभिश्चक्षुर्भगस्य रश्मिभिः ।

द्युक्षं मित्रस्य सादनमर्यम्णो वरुणस्य च ।

अथ दधाते बृहदुभयं १ वय उपस्तुत्यं बृहद् वयः ॥ — ऋ० १-१३६-२॥

अर्थ—फैलने की योग्यता वाला बहुत फैलता दिखाई देता है ऋतों (प्राकृतिक नियमों) के मार्ग पर शोभायमान की विख्यात रश्मियों से संयुक्त हो जाते हैं ।

[फैलने वाला से अभिप्राय है अर्वाक्ष की लगाम लगे प्रकृति के परमाणु ।]

[विख्यात का अभिप्राय है रश्मियों से संयुक्त इन्द्र ।]

[कौन संयुक्त हो जाते हैं ? मित्र और वरुण । इन्हीं के विषय में प्रथम मन्त्र में कहा था कि प्रकृतिरूपी अन्न इनके लिए है ।]

सूक्त का अगला मन्त्र है—

ज्योतिष्मतीमर्दिता धारयत्क्षितिं स्वर्वतीमा सचेते दिवे-दिवे जागृवांसा दिवे-दिवे ।

ज्योतिष्मत् क्षत्रमाशाते आदित्या दानुनस्पती ।

मित्रस्तयोर्वरुणो यातयज्जनोऽर्यमा यातयज्जनः ॥ — ऋ० १-१३६-३॥

अर्थ—अन्तरिक्ष में ठहरी हुई शक्तिशाली प्रकृति को ये दो—मित्र और वरुण धारण करते हैं ।

प्रतिदिन सचेत हुए दोनों (मित्र और वरुण) सेवन (सेवा कार्य) करते हैं ।

अदिति (प्रकृति) के तेजोमय (दो पुत्र) बल को दान में पाते हैं।
अभिप्राय यह कि अदिति के दो पुत्र मित्र और वरुण अदिति से शक्ति प्राप्त करते हैं।

मन्त्र में आगे कहा गया है कि मित्र और वरुण को अर्यमा भजन (सेवन) करता है।

सूक्त का अगला मन्त्र इस प्रकार है—

अर्यं मित्राय वरुणाय शन्तमः सोमो भूत्ववपानेष्वाभगो देवो देवेष्वाभगः ।

तं देवासो जुषेरत विश्वे अद्य सजोषसः ।

तथा राजाना करथो यदीमह ऋतावाना यदीमहे ॥—ऋ० १-१३६-४॥

अर्थ—यह अत्यन्त शान्त सोम मित्र और वरुण के लिए ग्रहण किया जाकर देव ऐश्वर्यमान होवे।

उसको (सोम को) सब देवता-गण संयुक्त होकर काम में लगावें।

तुम दोनों (मित्र और वरुण) चमकते हुआ को, ऋतों का पालन करने वालों को हम चाहते हैं (प्राप्त करने की इच्छा करते हैं।)

सूक्त का अगला मन्त्र इस प्रकार है—

यो मित्राय वरुणाय विषज्जनोऽनर्वाणं तं परि पातो

अंहसो दाश्वंसं मर्तमंहसः ।

तमर्यमाभि रक्षत्यजूयन्तमनु व्रतम् ।

उवथैर्य एनोः परिभूषति व्रतं स्तोमैराभूषति व्रतम् ॥—ऋ० १-१३६-५॥

अर्थ—जो उत्पन्न हुए मित्र और वरुण के लिए सेवा करते हैं उन शक्ति-विहीनों की रक्षा के लिए करो। उनको मरने से बचाओ।

शक्तिविहीन ऊपर के मन्त्र में कहे गये शान्त स्वभाव सोम हैं। इनको अर्यमा तथा neutrons भी कहा जाता है।

जो ऊपर दो स्तुति किये गये हैं वे उनका जो ऋजुगति से चलता है, रक्षा करते हैं और नियम का पालन करते हुए सुन्दर बनाते हैं।

ऋजु गति का अर्थ है वह गति जो अन्तरिक्ष में व्यापक है। यह गति अण्डाकार (elliptical) है। इस सन्दर्भ में कौन हैं जो अण्डाकार गति से चलते हैं, यह हम नीचे मन्त्रों में बतायेंगे।

इस सूक्त के मन्त्रों का उल्लेख तो हमने केवल इस कारण किया है क्योंकि वेद में तीन प्रकार के आपः, जो मित्र, वरुण और अर्यमा के नाम से स्मरण किये गये हैं, बताना था। अर्यमा को शन्तमः सोमः (अत्यन्त शान्त सोम) के नाम से भी स्मरण किया गया है।

मित्र हैं electrons, वरुण हैं protons तथा अर्यमा अथवा सोम हैं neutrons. यहाँ हम यह बात स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि वेद में सोम देवता से

अभिप्राय सदा अर्थमा से ही होता है। तीनों प्रकार के आपः देवता अर्थात् दिव्य गुण वाले माने जाते हैं। सोम का अर्थ, जैसाकि भाष्यकार एक क्षुप के पत्तों का रस मानते हैं, वह सर्वथा अशुद्ध है। सोम का अर्थ आवेशरहित आपः ही है।

वर्तमान विज्ञान में यह माना जाता है कि ये तीन प्रकार के आपः atomic particles ही सब प्रकार के ऐटम बनाते हैं। अभी तक पृथिवी में लगभग १०४ प्रकार के ऐटम प्राकृतिक रूप में पाये गये हैं। यह माना जाता है कि ये सब ऐटम तीन प्रकार के आपः (particles) से ही बने हैं। वेद में भी यही माना है और ऋग्वेद के एक सूक्त में आपः से ऐटम बनने की प्रक्रिया बताने का यत्न किया गया है। वह सूक्त है ऋ० १-३२। इसके कुछ मन्त्र हम नीचे दे रहे हैं जिससे ऐटम के बनने की प्रक्रिया का कुछ ज्ञान पाठकों को हो सके। इस सूक्त का प्रथम मन्त्र इस प्रकार है—

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री ।

अहन्नहिमन्वपस्ततर्दं प्र वक्षणा अभिनत्पर्वतानाम् ॥—ऋ० १-३२-१॥

अर्थ—वज्रधारी इन्द्र के प्रथम बहादुरी के कार्य अहि को नष्ट करने के विषय में कहते हैं।

अहि के शाब्दिक अर्थ हैं साँप तथा साँप की कुण्डली। यहाँ साँप की कुण्डली की भाँति सोम परमाणुओं के गुच्छों से अभिप्राय है। सोम आपः के बहुत बड़े-बड़े गुच्छे बन जाते हैं। और वे बड़ी-बड़ी गाँठों के रूप से ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे साँप कुण्डली मारकर बैठा है।

निम्न कोटि के आपः की गाँठों पर आघात कर उनके पहलुओं को तोड़-फोड़ देता है।

इस मन्त्र में शब्द हैं 'पर्वतानाम् वक्षणाः।' इसका अर्थ है गाँठों के पहलुओं को (पर्वत के अर्थ गाँठें हैं)।

रचनाक्रम में यह उस समय का वर्णन है जब अन्तरिक्ष में आपः बन गये और निम्न कोटि के आपः सोम अर्थात् अर्थमा बड़े-बड़े गुच्छों की गाँठों में एकत्रित हो गये। तब वज्री इन्द्र ने इनपर अपने वज्र से आघात किया। इन्द्र का वज्र है मित्र आपः अर्थात् इलेक्ट्रॉन। उसने इससे सोमों पर प्रहार किया। यह प्रहार किस कारण किया? जगत् रचनाक्रम में इकाइयाँ बनाई जाने लगी थीं। जैसे भवन निर्माण के समय बहुत बड़ी-बड़ी ईंटों से मकान के सब भाग भली-भाँति नहीं बन सकते, इसी प्रकार जगत् के पदार्थों के निर्माण के लिए छोटी-छोटी इकाइयाँ चाहिये थीं। अतः परमात्मा के तेज (अग्नि) के प्रभाव से इन्द्र ने अपने वज्र (मित्र आपः) से इन सोमों की गाँठों पर प्रहार कर उनको तोड़-फोड़ दिया।

सूक्त के अगले मन्त्र में वज्र की व्याख्या करते हुए लिखा है—

अहर्नाहं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टाऽस्मै वज्रं स्वयं ततक्ष ।

वाथा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः ॥

—ऋ० १-३२-२॥

अर्थ—इन्द्र का वज्र त्वष्टा ने बहुत बढ़िया बनाया है। उससे इन्द्र ने अहि (साँपों की कुण्डली) को तोड़ दिया।

त्वष्टा का अभिप्राय परमात्मा है। वज्र के विषय में हम बता चुके हैं कि वह मित्र आपः है।

(टूटने के उपरान्त) चलते हुए आपः अन्तरिक्ष में ऐसे प्राप्त होते हैं जैसे चाहने वाली गाय को बछड़ा प्राप्त होता है।

इस सूक्त का चौथा मन्त्र इस प्रकार है —

यदिन्द्राहन्प्रथमजामहीतामान्मायिनाममिनाः प्रोत मायाः ।

आत्सूर्यं जनयन्धामुषासं तादीत्ना शत्रुं न किला विवित्से ॥

—ऋ० १-३२-४॥

अर्थ—और हे इन्द्र ! कुण्डलियों में प्रथम उत्पन्न हुआ पर जब तुम प्रहार करते हो और उनकी रचना को भली प्रकार नष्ट कर देते हो तो उस समय सूर्य में और द्युलोक में उषा (प्रकाश) उत्पन्न कर देते हो। तब तुम्हारा विरोधी (विपरीत आवेश charge वाला) नहीं रहा।

इन्द्र के वज्र का विरोध करता है जिसपर वज्र अर्थात् मित्र के विपरीत आवेश होता है ऋण (—) और वरुण पर आवेश होता है (+) धन। इस कारण मित्र का विरोधी है वरुण। वरुण स्वाभाविक रूप में मित्र का विरोध करता है। यह सोम को ढाँपना चाहता है। इस कारण इसे वेदमन्त्रों में वृत्र भी कहा है। वृत्र का अर्थ है ढाँपने वाला छाजन। इसी कारण वृत्र को वादल भी कहा जाता है क्योंकि वादल भी ढाँप लेता है।

सूक्त का अगला मन्त्र इस प्रकार है—

अहन्वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता बधेन ।

स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृषणाऽहिः शयत उपपृषपृथिव्याः ॥

—ऋ० १-३२-५॥

अर्थ—इन्द्र वृत्र और वृत्र से भी बड़ों पर प्रहार करता है और महान् वज्र से बिनष्ट कर देता है।

शरीर के अवयवों की भाँति तेज शस्त्र से टुकड़े-टुकड़े हुआ पृथिवी पर लेट जाता है।

मन्त्र का अभिप्राय यह है कि वृत्र जो सोमों को ढाँपने का यत्न करता है उसको ऐसे टुकड़े-टुकड़े कर देता है जैसे किसी तेज धार वाले शस्त्र से शरीर के अवयव पृथक्-पृथक् किये जाते हैं। तत्पश्चात् वह सोमों को भी टूक-टूक कर देता

है और वे ऐसे शान्त लेट जाते हैं जैसे वे पार्थिव (solids) होते हैं।

ऊपर के और अगले मन्त्र में इन्द्र के वज्र और वरुण तथा सोम आपः के परस्पर संघर्ष का वर्णन है। वज्र अर्थात् मित्र आपः और वरुण आपः पर आवेश (charge) विपरीत होने पर भी समान मात्रा में ही होता है। परन्तु मित्र आपः द्रव्यमान और विस्तार के विचार से वरुण के लगभग १६०० गुणा कम होने के कारण मित्र पर आवेश की तेजी intensity बहुत अधिक होती है। इस कारण अन्तिम विजय मित्र आपः की ही होती है। परिणाम यह होता है कि सोम आपः उचित आकार विस्तार के हो जाते हैं और जगत् के पदार्थों की ईंटें (units) उचित विस्तार की हो जाती हैं और जगत् के पदार्थ बनने लगते हैं।

इन मन्त्रों में बताया है कि पदार्थ की ईंटें अर्थात् ऐटम छोटे-बड़े बन जाते हैं। यह हम इस कारण कहते हैं कि इस काट-छाँट से जो बनता है, उसका रूप नीचे के मन्त्र में वर्णन किया है। यह रूप वर्तमान विज्ञान वालों के 'ऐटम' का ही है।

मन्त्र इस प्रकार है—

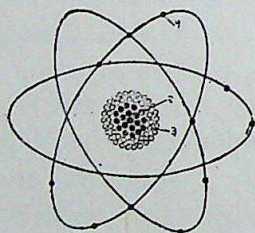
अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरं।

वृत्तस्य निष्णं वि चरन्त्यापो दीर्घन्तम आशयदिन्द्रशत्रुः॥

—ऋ० १-३२-१०॥

अर्थ—सोमावर्ती आपः अस्थिर मार्गों पर चलने वाले हैं और मध्य में शरीर (core) स्थित है। इन्द्र के विरोधी आवेश वाले और आवेश रहित आपः ऐसे ठहरते हैं, जैसे गाय के नीचे उसका बछड़ा।

यह एक ऐटम का चित्र है। यदि इसे चित्रवत् लिखा जाय तो वह इस प्रकार होगा—



१. तेजस् अहंकार = मित्र = (electrons)
२. वैकारिक अहंकार = वरुण = (protons)
३. भूतादि अहंकार = सोम = अर्थमा = (neutrons)

इन ऐटमों के टूटने के विषय पर भी चिन्तन किया गया है। अगले मन्त्र में इसका ही वर्णन है। वह इस प्रकार है—

दासयत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।

अपां बिलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वां अप तद्ववार ॥

—ऋ० १-३२-११॥

अर्थ—शरण में आये हुआओं की रक्षा करने वाला अहि (आपः का छाजन) सोम को रोका हुआ ठहरा है। जैसे गाओं के रक्षक उनको रोक रखते हैं। जब वृत्र ने आपः को बिल में बन्द किया हुआ था तो इन्द्र (मित्र) ने उसको मारा। [आवेश-रहित किया] तो वे (बिल से बाहर) वह निकले।

जब सोम आपः अर्थात् neutrons ऐटम से निकल जाते हैं तो ऐटम का भार कम हो जाता है और कम भार वाले ऐटम बन जाते हैं।

वर्तमान विज्ञान भी यह जान गया है और इस प्रकार कम भार वाले ऐटमों को आइसोटोप (isotopes) कहते हैं।

इस कण्डिका में हमने यह बताने का यत्न किया है कि आपः प्रकृति की सन्तान हैं। उनके नाम हैं मित्र, वरुण और अर्यमा। अर्यमा को सोम के नाम से भी जाना जाता है। ये वर्तमान विज्ञान के इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन और प्रोट्रॉन हैं।

तदुपरान्त हमने इन आपः (atomic particles) से ऐटम बनने की प्रक्रिया, जैसाकि वेद में वर्णित है, बताने का यत्न किया है। तदनन्तर हमने भारी ऐटम से कम भार वाले ऐटम (isotopes) बनने की प्रक्रिया का वर्णन किया है।

इस वर्णन में एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि सोम आपः इन्द्र के प्रयत्न से पृथक् होकर पदार्थ (solid matter) बनाते हैं। इसका क्या लाभ है, यह हम अगली कण्डिका में वर्णन करेंगे।

: ३ :

उपसंहार की प्रथम तथा द्वितीय कण्डिका में जो कुछ भी हमने वर्णन किया है उसका उपनिषद् से यह सम्बन्ध है कि वहाँ जो अन्न, प्राण, मन तथा विज्ञान और आनन्द के विषय में कहा है उसको समझाने के लिए इस आधारभूत ज्ञान की आवश्यकता है। इन कण्डिकाओं में हमने जो कुछ भी वर्णन किया है, उसको संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है—

१. जगत् की रचना से पूर्व दो पदार्थ विद्यमान थे। उनमें से एक तो आनीदवातम् था। यह सुषुप्तावस्था में शक्ति थी। दूसरा पदार्थ था स्वधा। यह प्रकृति का नाम इस कारण है क्योंकि यह अपने आश्रय पर ही स्थित था।
२. यह प्रकृति सूक्ष्म कणों में थी और चारों ओर से अन्धकार से छाई हुई थी। रचना के समय परमात्मा की यदृच्छा से सुषुप्ति अवस्था वाली शक्ति जागृत हो गई।
३. तदुपरान्त उस शक्ति का नाम अश्व अथवा अर्वः हो गया। उसका यह नाम इस कारण पड़ा, क्योंकि इसने सृष्टि-रचना के कार्य को इस प्रकार चलाया जिस प्रकार अश्व रथ को चलाता है। यह अर्वः घोर नाद करता हुआ अन्तरिक्ष में तीव्र गति से फैल गया। जहाँ-जहाँ यह फैला वहाँ यह साम्यावस्था में

परमाणुओं पर लगाम की भाँति आरुढ़ हो गया। इस आरुढ़ होने से यह परमाणु में से इन्द्र को बाहर प्रकट करने में सफल हो गया। इन्द्र परमाणु को फोड़कर प्रकट हो गया तो वह रश्मियों से युक्त था। वे रश्मियाँ सत्त्व, रजस्, तमस् इस प्रकार तीन ही थीं।

४. समान प्रकार की रश्मियाँ परस्पर अनाकर्षण करती हैं और विपरीत प्रकार की रश्मियाँ आकर्षण करती हैं।
५. इस आकर्षण और विकर्षण से परमाणुओं के संयोग (निबन्धन) बन गये। ये निबन्धन तीन प्रकार के थे। इन निबन्धनों का संयुक्त नाम है आपः। आपः तीन प्रकार के हुए। एक तो वे जिनपर शेष आवेश रजस् अर्थात् ऋण का था। ये मित्र (electrons) कहाये। दूसरी प्रकार के निबन्धन वे हुए जिनपर शेष आवेश सत्त्व था। वे वरुण (protons) कहाये। और तीसरी प्रकार के आपः वे हुए जिनपर किसी प्रकार का आवेश नहीं था। वे अर्यमा अथवा सोम (neutrons) कहाये।
६. इन आपः से ऐटम बना। ऐटम में सोम और वरुण बीच में स्थिर ऐटम का शरीर (core) बन गये। और मित्र ऐटम परिधि पर विविध मार्गों पर चक्कर काटने लगे।
७. ऐटम निर्माण में विशेष कार्य इन्द्र के वज्र मित्र आपः ने किया। इसके कर्म से छोटे-बड़े ऐटम बने।
८. ऐटम के द्रव्यमान (mass) में और भार (weight) में मुख्य योगदान सोमों का ही है।

अब इस कण्डिका में हम सृष्टि-रचना में इन आपः विशेषतया सोम के विषय में बताने का यत्न करेंगे। हमने यह तो बताया है कि सोम आवेशरहित होने से निश्चल और निष्क्रिय होते हैं; परन्तु जगत्-रचना में इनका कार्य प्रशंसनीय है। तब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह किस शक्ति से कार्य करते हैं।

इस विषय में वेद में एक मन्त्र है—

अग्नीषोमा यो अथ वामिदं वचः सपर्य्यति ।

तस्मै धत्तं सुवीर्यं गवां पोषं स्वध्वम् ॥—ऋ० १-६३-२॥

अर्थ—हे अग्नि और सोम ! जो ये तुम्हारी स्तुतियाँ कही जाती हैं तो पता चलता है कि सोम के प्रभाव से अग्नि की रश्मियाँ पुष्ट हो कामना पूर्ण करने लगती हैं।

अर्थात् वेद का मत है कि परमात्मा की अनादि अग्नि जिसे आनीदवातं कहा था और सक्रिय होने पर जिसे अर्वः कहा है, वह सोम के सम्पर्क में आने पर बलपूर्वक कार्य करने लगती है।

तब यह क्या कार्य करती है ? इस विषय में अगले मन्त्र में कहा है—

अग्नीषोमा य आहुति यो वां वाशाद्विष्कृतिम् ।

स प्रजया सुवीर्यं विश्वमायुर्व्यश्नवत् ॥—ऋ० १-६३-३॥

अर्थ—हे अग्नि और सोम ! जो आहुति तुमको दी जाती है उससे हवि प्राप्त की जाती है । उससे वायु में बल और वीर्य आता है ।

वायु के दो अर्थ हैं । एक अर्थ है गति । अभिप्राय यह हुआ कि वायु में गति और बल आता है । वायु का दूसरा अर्थ है संगठनात्मक शक्ति । उस अवस्था में इसका अर्थ होगा—अग्नि और सोम के संयोग से पदार्थों के संगठन में दृढ़ता आती है ।

अभिप्राय यह है कि सोम से यह कार्य अनादि अग्नि के संयोग से सम्पन्न होता है ।

वायु सोम से क्या कार्य कराता है इस विषय में भी एक मन्त्र में इस प्रकार कहा गया है—

वायवा याहि दशंतेमे सोमा अरंकृताः ।

तेषां पाहि शुधी हवम् ॥—ऋ० १-२-१॥

अर्थ—हे वायु ! आओ और इन सजाये हुए सोमों की रक्षा करो । यही हमारी पुकार (अभिलाषा) है ।

अर्थात् सोम इस जगत् में सजाये गये हैं और वायु उनकी रक्षा करे ।

वायु क्या करता है ? हम बता चुके हैं कि वायु के दो कार्य हैं । एक कार्य है पदार्थों को संगठित रखना और दूसरा कार्य है उनमें गति उत्पन्न करना । यहाँ संगठित रखने से अभिप्राय है । सोम को संगठित करती है अग्नि । इस विषय में वेद में कहा है—

अग्नीषोमां चेति तद्वीर्यं वां यदमुष्णीतमवसं पर्णि गाः ।

अवातिरतं बृसयस्य शेषोऽविन्दतं ज्योतिरेकं बहुभ्यः ॥—ऋ० १-६३-४॥

अर्थ—हे अग्नि और सोम ! तुम दोनों ने उस बल को जागृत किया, जो रश्मियाँ व्यवहार में लाती हैं और जिनका विरोध नहीं हो सकता । चेतन किया जाने वाले का शेष जो अभी उत्पन्न नहीं हुआ । एक ज्योति बहुत हो जाती है ।

अभिप्राय यह है कि जब अग्नि और सोम में संयोग होता है तो उसमें से रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं । अर्थात् अग्नि की एक रश्मि अनेक हो जाती है ।

इस सूक्त का अगला मन्त्र है—

आन्यं दिवो मातरिश्वा जभारामथनादन्यं परि श्येनो अद्रेः ।

अग्नीषोमा ब्रह्मणा वावृधानोरं यज्ञाय चक्रयुः लोकम् ॥—ऋ० १-६३-६॥

अर्थ—परमात्मा द्वारा फैलाये गये कार्य के लिए अग्नि और सोम विस्तृत लोकों को चले जाते हैं ।

दोनों में से एक अर्थात् अग्नि मातरिश्वा की गति से द्यु लोक में चारों ओर फैलाई जाकर सोम को पत्थर पर चूर्ण का भाँति पीस डालती है।

इसका अभिप्राय यह है कि जब सोम बड़े-बड़े वन जाते हैं तो पहले तो परमात्मा द्वारा फैलाई गई सृष्टि में मातरिश्वा से सोम फैला दिये जाते हैं और फिर अग्नि द्वारा वे बहुत बारीक पीस दिये जाते हैं।

मातरिश्वा उस वायु अर्थात् गति करनेवाली शक्ति को कहते हैं जो परमाणुओं की साम्यावस्था भंग होने पर आकर्षण-विकर्षण से उत्पन्न होती है।

इसके आगे वेद में कहा है—

अग्नीषोमा हविषः प्रस्थितस्य वीतं हर्यतं वृषणा जुषेयाम् ।

सुशर्माणा स्ववसा हि भूतमथा धत्तं यजमानाय शं योः ॥—ऋ० १-६३-७॥

अर्थ—जो पंचभूत अग्नि सोम का मन से सत्कार करते हैं और उसके कर्म को यज्ञ में धी की भाँति उग्र करते हैं और निमित्त पदार्थों को नाश से बचाते हैं उनको सुख दो।

सोम है आवेशरहित आपः के बड़े-बड़े संयोग। अग्नि उनको छोटे-छोटे टुकड़ों में पीस डालती है। यह द्युलोक में होता है। वहाँ अग्नि के संयोग से उसमें से रश्मियाँ बहुत बड़ी संख्या में उत्पन्न होती हैं उससे प्रकाश उत्पन्न होता है। इससे सब प्राणियों को सुख मिलता है।

यजमान का अभिप्राय है मनुष्य और मन्त्र में इस शब्द का अभिप्राय है प्राणी। प्राणियों के लिए पंच महाभूत बल और ज्ञान देते हैं।

इस मन्त्र में यह कहा है कि सोम पंच महाभूतों को बनाने में मुख्य भाग लेता है। यह वर्तमान विज्ञान में भी माना जाता है कि ऐटम तथा महत का भार और द्रव्यमान मुख्यतः सोमों (neutrons) के कारण ही होता है। यही बात यहाँ कही है कि पंच महाभूतों के निर्माण में मुख्य योगदान सोम आपः का ही है।

एक अन्य मन्त्र में कहा है—

या ते धामानि दिवि या पृथिव्यां या पर्वतेषु श्रोषधीषु अप्सु ।

तेभिर्नो विश्वेः सुमना अहेळन् राजन्सोम प्रति हव्या गुमाय ॥

—ऋ० १-६१-४॥

अर्थ—जो तेरा द्युलोक से पृथिवी और पर्वतों, वनस्पतियों तथा जलों में स्थान है, हे सोमराज ! उन सबके द्वारा सुखी मन से हमको ग्रहण कराइये।

इस मन्त्र में कहा है कि सोम आपः द्युलोक में पृथिवी पर आते हैं। तदनन्तर वनस्पतियों, पर्वतों, और जलों में जो उसका भाग है उसका लाभ हमको दीजिये।

इसका अर्थ है कि सोम इन ठोस पदार्थों के निर्माण में विशेष भाग लेता है और उसका लाभ हमको होता है।

: ४ :

सृष्टि-रचना का जो कुछ भी वर्णन हमने वेद मतानुसार ऊपर किया है उपनिषद् की बात से उसकी तुलना की जा सकती है। उपनिषद् में कहा है कि प्राणी का शरीर अन्नमय है। वह अन्न से बनता है और अन्न की ही खाता है।

वेद कहता है कि अन्न वनस्पतियों में होता है अन्न में मरुत और (mdcule) ऐटम (परिमण्डल) होते हैं।

यहाँ हम पहले इतना बता देना उचित समझते हैं कि हमने ऐटम का नाम परिमण्डल बताया है। यह वैशेषिक दर्शन का शब्द है। हम समझते हैं कि यह ऐटम का पर्यायवाचक है। ऐटम को परिमण्डलीय गति के कारण इसका नाम परिमण्डल रखा गया है।

हमने यह भी कहा है कि मरुतों और परिमण्डलों में द्रव्यमान के विचार से सोमों का ही भाग है। इस कारण पृथिवी, वनस्पतियाँ तथा जलों में सोम ही मुख्यतः होते हैं और वे ही अन्न हैं।

यह ठीक है कि शरीर अन्न है, परन्तु शरीर में जो कार्य हो रहा है जिसे उपनिषद् में अन्न खाने की बात कही है वह अन्न अर्थात् सोम नहीं करते। शरीर में अन्न खाने को मेटाबोलिज्म (metabolism) कहते हैं। इसके करने वाले मित्र और वरुण हैं। शरीर का खाना मेटाबोलिक परिवर्तन को उत्पन्न करता है। ये रासायनिक परिवर्तन (chemical changes) हैं। ये मित्र (electrons) और वरुण (protons) से सम्पन्न होते हैं।

अतः अन्न अन्न को नहीं खाता और न ही अन्न से प्राण बनता है। प्राण शब्द वेद में दो प्रकार की शक्तियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। एक प्राण है परमात्मा की अनादि शक्ति। इसका उल्लेख ऋ० १-१-१ में किया गया है। यह सृष्टि-रचना से पूर्व ही विद्यमान थी। यह परमात्मा की शक्ति भी प्राणी में प्राण के रूप में कार्य करती है। परन्तु इसके अतिरिक्त एक अन्य शक्ति भी है जो प्राणी में प्राण के रूप कार्य में करती है।

प्राणी में प्राणों की संख्या सात है। छः प्राण तो इन्द्रियों में कार्य करते हैं एक प्राण सब कर्मेन्द्रियों में कार्य करता है। इससे कर्मेन्द्रियाँ कार्य करती हैं। ये इन्द्रियों से बदले भी जाते हैं। हाथ के स्थान पर पैर कार्य कर सकता है। इस कारण पाँचों कर्मेन्द्रियों में एक प्राण कार्य करता है। ऐसी मान्यता है।

पाँच प्राण ज्ञानेन्द्रियों में कार्य करते हैं। ये परस्पर बदले नहीं जा सकते। इस कारण ये पाँच हैं। ये छः प्राण हैं और सातवाँ श्रेष्ठ प्राण तो सर्वथा भिन्न है। इनमें से कोई भी पहले छः प्रकार के प्राणों से बदला नहीं जा सकता।

यह सातवाँ प्राण शरीर में पाँच प्रकार की वायुओं को चलाता है। वायु से

अभिप्राय है गति । ये वायु अर्थात् गतियाँ कहलाती हैं । प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान ।

यह माना जाता है कि यह पाँचों प्रकार की वायु अर्थात् श्रेष्ठ प्राण मनुष्य के हृदय में स्थित गुहा में बैठा परमात्मा नियन्त्रित करता है । ऐसा ही सांख्य दर्शन तथा अन्यान्य उपनिषद् मानते हैं—श्रेष्ठ प्राण प्राणी के अधीन नहीं ।

अतः प्राण दो प्रकार के हैं । छः साधारण प्राण जो इन्द्रियों में कार्य करते हैं । वे इन्द्र की त्रिगुणात्मक शक्ति का चमत्कार है । ये प्राण अन्न में मित्र electrons और वरुण protons से शक्ति प्राप्त करते हैं । ये अन्न से उत्पन्न होते हैं । अन्न के मुख्य भाग सोम से नहीं अपितु मित्र और वरुण से । वस्तुतः सोम अन्न है और मित्र वरुण प्राण है । सोम से मित्र और वरुण उत्पन्न नहीं होते ।

अतः वेद मतानुसार अन्न से प्राण (न तो श्रेष्ठ प्राण न ही सामान्य प्राण) उत्पन्न नहीं होते । ये इन्द्र की शक्ति है अथवा परमात्मा की शक्ति है । अन्न मुख्यतः प्रकृति का जड़ अंश (सोम) है ।

अब मन के विषय में भी समझ लेना चाहिए । सांख्य दर्शन में कहा है—

महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मनः ॥—सां० १-७१॥

महत् का जो प्रथम कार्य विख्यात है वह मन है ।

इसका अभिप्राय है कि महद से सबसे पहले मन बनता है ।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि 'महत्' क्या है ? इस विषय में सांख्य में पहले ही कहा जा चुका है कि—

सत्त्व रजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः । प्रकृतेर्महान्...॥—सां० १-६१॥

अर्थात् सत्त्व रजस्-तमस् की साम्यावस्था प्रकृति है । प्रकृति से सबसे पहले महान् बनता है ।

यह महान् ही महत् है । सांख्यदर्शन के सूत्र १-७१ में कहा है कि महत् से आरम्भ में ही मन बनता है ।

महत् है प्रकृति के परमाणु की असाम्यावस्था । और हमने इससे पूर्व ऋ० १-१६३-३, ४ के प्रमाण से स्पष्ट किया है कि प्रकृति की साम्यावस्था से सबसे पहले आपः बनते हैं । यही बात वेद में भी कही गई है कि मन आपः है ।

वेदमन्त्र इस प्रकार है—

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विद्वद्भ्यो धीराः ।

यदपूर्वं यक्ष्मन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥—यजु० ३४-२॥

अर्थ—जो आपः मन (मन) से मननशील और धीर मनुष्यों के जीवन कार्य में, विचार कर कर्म करता है और जो मनुष्यों के भीतर से संयुक्त होकर कार्य करता है, वह मेरा मन श्रेष्ठ संकल्पों वाला हो ।

इस मन्त्र में मन को आपः कहा है । उसके साथ ही यह भी कहा गया है कि

वह भीतर बैठा हुआ ज्ञान से कर्म करता है अर्थात् भीतर बैठा हुआ इन्द्रियों से काम करवाता है, वह मन है। उसके संकल्प (भावी योजनायें) श्रेष्ठ हों।

अगला मन्त्र है—

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।

यस्मान्नऽऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पस्तु ॥

—यजु० ३४-३॥

जो आत्मा के सम्पर्क में आकर चेतन और धैर्यवान हो जाता है जिसकी यह शक्ति चेतन और धैर्य अमर हो जाती है (स्मरण रहता है) और बुद्धि से हम अनृत (नियम विरुद्ध) करना नहीं चाहते, वह मेरा मन श्रेष्ठ संकल्प (श्रेष्ठ योजना) बनाने वाला हो।

इस प्रकार मन के विषय में जो वेद में कहा है, वही सांख्यदर्शन में भी कहा गया है। यह हम पहले ही बता चुके हैं कि मन प्रकृति की ही उपज है। मन के गुणों के विषय में सांख्य कहता है—

१. उभयात्मकं मनः ।

२. गुणपरिणामभेदान्नानात्वमवस्थावत् ।

३. रूपादिरसमलान्त उभयोः ।

४. द्रष्टृत्वादिरात्मनः करणत्वमन्द्रियाणाम् ।

—सां० २-२६, २७, २८, २९॥

इनके अर्थ हैं —

१. मन दो स्वभाव वाला है। यह बाहर के अनुभव ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त करता है और फिर कर्मेन्द्रियों से कार्य करता है।

२. इन्द्रियों के स्वभाव और विषय अनेक होने से मन के कर्म भी अनेक हो जाते हैं।

३. ज्ञानेन्द्रियों के रूपादि पाँच विषय हैं। और कर्मेन्द्रियों के रसनादि पाँच विषय हैं। इनके परस्पर मेल से अनेक संयोग बनते हैं और यह मन द्वारा अनुभव होते हैं।

४. देखने वाला आत्मा है। करण (इन्द्रियाँ) तो साधन है। इस कारण मन भी साधन ही है।

इतना कहने के उपरान्त आगे मन के विषय में इस प्रकार कहा है—

१. इन्द्रियेषु साधकतमत्वयोगात् कुठारवत् ।

२. द्वयोः प्रधानं मनो लोकवद् भृत्यवर्गेषु ।

३. अव्यभिचारात् ।

४. तथाऽशेषसंस्काराधारत्वात् ।

५. स्मृत्यनुमानाच्च ।

६. सम्भवेन्न स्वतः ।

७. समानकर्मयोगे बुद्धेः प्राधान्यं लोकवल्लोकवत् ॥

—सां० २-३६ से ४४ एवं ४७॥

इनका अर्थ है—

१. इन्द्रियों का मन से ऐसा सम्बन्ध है जैसा हाथ और कुल्हाड़े का है। अर्थात् मन इन्द्रियों से ऐसे काम लेता है जैसे हाथ कुल्हाड़े से लेता है।

२. दोनों, कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों में मन ऐसे है जैसे कर्मचारियों में उनका मुखिया होता है।

३. मन अनियमित कार्य नहीं करता।

४. यह संस्कारों के शेष को धारण करता है। अर्थात् जब कुछ किसी भी इन्द्रिय से कार्य होता है तो उस कर्म का संस्कार मन पर शेष रह जाता है।

५. इसे स्मृति कहते हैं।

६. यह सब कार्य मन स्वतः नहीं करता। यह जड़ है, इस कारण इससे कार्य कराने वाला कोई अन्य है।

७. समान कर्मों में बुद्धि का योगदान होता है।

यह भी संसार में होने वाले कामों का भाँति ही होता है। काम का स्वामी होता है, स्वामी का मन्त्री होता है। कार्य करने वाले अन्य सेवक होते हैं।

मन के विषय में इस प्रकार वेदादि शास्त्रों में वर्णन किया गया है। यह प्रकृति की उपज है। वेद में इसको आपः कहा है और सांख्यदर्शन में इसे महत् की प्रथम उपज माना है।

मन काम करने वाली इन्द्रियों के मुखिया के पद पर प्रतिष्ठित है। इस दृष्टि से तो यह अन्न है क्योंकि यह प्रकृति का एक परिणाम है। प्रकृति जगत् की उत्पत्ति में महान् अन्न का काम करती है। परन्तु यह प्राण की उपज नहीं। यह कहा जा सकता है कि यह प्राण और प्रकृति का संयोग है। श्रेष्ठ प्राण के अतिरिक्त एक अन्य आत्मा तत्त्व का संयोग भी इसमें पाया जाता है।

हमने यजुर्वेद ४०-१५ का ऊपर उल्लेख किया है। उसमें बताया है कि मृत्यु के समय एक अमर तत्त्व (जीवात्मा) उसमें से निकल जाता है। तब शरीर को भस्म कर दिया जाता है। इसमें वायु और अनिल तो आकाश में लीन हो जाते हैं केवल भस्म ही श्मशान में शेष रह जाती है। वहाँ पर हमने वायु और अनिल का अर्थ भी समझाया है।

इसका अर्थ यह है कि जीवित शरीर के विषय में वेद ने माना है कि यह तीन अक्षरों के संयोग से बनता है प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा। वेद में यह स्पष्ट कहा है—

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः ।

तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यान्नपश्यं विक्षपतिम् सप्तपुत्रम् ॥

—ऋ० १-१६४-१॥

अर्थ—इस सुन्दर वृद्ध होने वाली काया में उसका एक भाई रहता है जो उसका भोग करगा है ।

एक तीसरा भाई है जो उन दोनों की रक्षा (पालन) करता है । वह अपने सात पुत्रों (प्राणों) के साथ उसमें रहता है ।

यह नहीं कहा कि एक भाई दूसरे में बदल जाता है । अथवा एक से दूसरा उत्पन्न होता है ।

रोचक बात तो यह है कि जब अद्वैतवादी वेदादि शास्त्रों से अपनी बात कि 'एक परमात्मा ही है अन्य कुछ नहीं' यह सिद्ध नहीं कर सकते तो वेदशास्त्रों की निन्दा करने लगते हैं ।

स्वामी शंकराचार्य ने तो कह दिया कि वेदादि का यह कथन मूर्खों के लिए कहा गया है । यह ज्ञानियों के लिए नहीं है ।

यही कारण है कि हम वेद के सिद्धान्त को तर्क से भी सिद्ध करना चाहते हैं । यही बात दर्शनशास्त्रों के विषय में भी कही गई है ।

शंकराचार्य तर्क को मिथ्या पथगामी कहते हैं । उनके लिए न तो वेद शास्त्र प्रमाण हैं और न ही बुद्धि द्वारा सिद्ध की गई बात ही ।

दर्शनशास्त्र उस युक्ति को तर्क का पद देते हैं जो प्रतिष्ठित हो । प्रतिष्ठित तर्क से अभिप्राय है जो प्रत्यक्ष पर आधारित हो । वह किस आधार पर होनी चाहिये इसकी जो व्याख्या हम यथा स्थान कर आये हैं । संक्षेप में यही कि जिस प्रकार धुएँ को देखकर अग्नि का ज्ञान होता है ।

इस उपसंहार की अगली कण्डिका में हम पूर्ण विवेचन को तर्क से ही सिद्ध करने का यत्न कर रहे हैं । यह दर्शनशास्त्रों के अनुरूप ही है ।

: ५ :

१. शरीर के विषय में पहली बात यह अनुभव में आती है कि जीवित और मृत शरीर में अन्तर दिखाई देता है । जीवित प्राणी के शरीर में किसी स्थान पर एक सुई चुभाये तो पूर्ण शरीर उस स्थान की पीड़ा मिटाने का और सुई निकालने का यत्न करने लगता है । किन्तु मृत शरीर में यह संभव नहीं है ।

इससे यह सिद्ध होता है कि जीवित शरीर में मरने के समय कुछ निकल गया है, यह प्राण है । हमने यह भी बताया है कि प्राण दो प्रकार के हैं । एक वे जो प्राणी के नियन्त्रण में कार्य करते हैं और दूसरे प्राण वे हैं जिन्हें वायु भी कहते हैं । वे प्राणी के अधीन नहीं होते ।

अतः यह सिद्ध हुआ कि प्राणों को नियन्त्रण में करने वाले दो तत्त्व शरीर में हैं। इसे ही दर्शनशास्त्र ने कहा है—

गुहां प्रविष्टात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥ ब्र० सू० १-२-११ ॥

अर्थात्—गुहा में बैठे हुए दो आत्म तत्त्व सिद्ध होते हैं।

२. एक जीवात्मा है और दूसरा परमात्मा है।

दो प्रकार के प्राणों की विद्यमानता ही यह सिद्ध करती है कि प्राणी के शरीर पर दो आत्म तत्त्वों का नियन्त्रण है। जीवित शरीर में हाथ-पांव तो जीवधारी अपनी इच्छा से चला सकता है। परन्तु हृदय की गति उसके नियन्त्रण में नहीं है। गले से आरम्भ कर गुदा द्वार तक खाई हुई वस्तु की गति प्राणी के अधीन नहीं है। इसी प्रकार वृक्क से लेकर मूत्राशय तक मूत्र का संचालन उसके अधीन नहीं। इनका संचालन करने वाली वायु जिसके अधीन है, उसे परमात्मा के नाम से जाना जाता है।

३. शरीर वयस् के साथ वृद्धि करता है अथवा ह्रास को पाता है। परन्तु उस शरीर में दो शक्तियाँ ऐसी भी हैं जो आयु से सम्बन्धित नहीं हैं। एक ही माता-पिता के दो पुत्र, मन और बुद्धि में भिन्न-भिन्न होते जाते हैं। एक विज्ञान में धुरन्वर विद्वान् होता जाता है और दूसरा स्कूल की पढ़ाई करने के योग्य भी नहीं रह पाता। इससे यह सिद्ध होता है कि स्मृति यन्त्र (मन) और विचार यन्त्र (बुद्धि) शरीर से भिन्न है। ये न तो शरीर के अंगों की भाँति रस, रक्त, मांस, मज्जा, मेद, अस्थि और वीर्य से बने हैं न ही उनकी जाति के पदार्थ हैं। मनुष्य जब वृद्ध होने लगता है तो उसका शरीर शिथिल होने लगता है। परन्तु मन और बुद्धि तीक्ष्ण होते हैं।

इसी कारण मन और बुद्धि की बनावट पंचभौतिक नहीं कही गई। सांख्य-दर्शन में मन तथा बुद्धि महत् की उपज बताई गई हैं।

४. सृष्टि-रचना हुई है। यह चल रही है। यह किसी नियम से चल रही है। परन्तु हम यह भी देखते हैं कि जड़ पदार्थों में स्वतः चलने की शक्ति नहीं है। प्रकृति का एक छोटे-से-छोटा कण भी जब खड़ा है तो वह खड़ा ही रहता है और यदि चलता है तो चलता ही रहता है। वह स्थिर गति से सीधी रेखा में चलता रहता है जबतक कि कोई बाहरी शक्ति उस पर प्रभाव न डाले।

इससे यह सिद्ध होता है कि जगत् जो गतिशील पदार्थों का समूह है बिना किसी बनाने वाले के बन नहीं सका। इसको बनाने वाला कोई है।

सृष्टि-रचना करने वाला आत्मतत्त्व निश्चय ही उस आत्मतत्त्व से बहुत अधिक शक्ति रखता है तो आत्मतत्त्व शरीर पर नियन्त्रण रखता है। इस महान् शक्तिमान् आत्मतत्त्व को परमात्मा कहते हैं और उस आत्मतत्त्व को जो शरीरधारी है केवल जीवात्मा कहते हैं।

साथ ही परमात्म-तत्त्व को सर्वज्ञ कहते हैं। जीवात्मा को अज्ञ अथवा अल्पज्ञ माना है। वेद में भी कुछ इसी प्रकार कहा है। वहाँ एक मन्त्र है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि वस्वजाते ।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनन्नन्यो अभि चाकशीति ॥

—ऋ० १-१६४-२०॥

अर्थ—सुन्दर गति वाले दो तत्त्व सखा (समान जाति के) और परस्पर संयुक्त प्रकृतिरूपी वृक्ष पर विराजमान है। इनमें से एक इस प्रकृति के फलों का प्रयोग करता है और दूसरा इनका भोग नहीं करता है। वह केवल देखता है।

५. एक ही माता-पिता की सन्तान परिस्थितियाँ समान होने पर भी शरीर और मन बुद्धि से एक समान नहीं होते। इससे यह अनुमान होता है कि मनुष्य के वर्तमान जीवन के अतिरिक्त भी कारण होते हैं बल, बुद्धि और मननशीलता में। ये पूर्व जन्म के कर्म ही समझे जाने चाहियें। इससे जीवात्मा का बार-बार जन्म है कि लेना भी सिद्ध होता है। इस जन्म के कर्मफल अगले जन्म तक भी जाते हैं।

६. अच्छा भोजन करने वाले तथा सब प्रकार से स्वस्थ जीवन व्यतीत करने वाले आवश्यक नहीं कि दीर्घजीवी ही हों। वर्तमान जीवन की सुख-सुविधा तथा लम्बा अथवा लघु जीवन से सम्बन्ध रखते दिखाई नहीं देते। इससे यह सिद्ध होता जीवन का छोटा अथवा लम्बा होना भी पूर्वजन्म के कर्मों से सम्बन्ध रखता है।

ये हैं तर्क द्वारा निःसृत कुछ निष्कर्ष। दर्शनशास्त्रों में भी इनका इसी प्रकार वर्णन उपलब्ध है।

जो बात यहाँ पर हम अपने पाठकों को बताना चाहते हैं वह यह कि अन्न शरीर का अंग है। उसी प्रकार प्राण शरीर का अंग है। न तो इनमें से कोई एक-दूसरे के भीतर है और न कोई एक-दूसरे से बनता है।

प्रस्तुत उपनिषद् (३-५०) में विज्ञान को ही ब्रह्म कहा है। किन्तु इससे पूर्व ब्रह्मानन्द वल्ली में विज्ञान को मन की उपज कहा है। हमने वहाँ पर बताया है कि विज्ञान का अर्थ किसी पदार्थ का विशेष ज्ञान है और विज्ञान को समझने वाली बुद्धि भी कहा है।

सांख्य के प्रमाण से हमने सिद्ध किया है कि मन और बुद्धि दोनों महत् के अंश हैं। यह कहीं किसी शास्त्र में उल्लेख नहीं है कि बुद्धि मन से उत्पन्न होती है अथवा मन बुद्धि में बदल जाता है। हाँ, यजुर्वेद में प्रज्ञान जीवात्मा के लिए आया है। यह मन्त्र यजुः० ४३-३ में आया है 'यत्प्रज्ञानमुतचेतो' अर्थात् जब जीवात्मा मन को चेतन अर्थात् सजग कर देता है तब...

मन को जीवात्मा सजग करता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषद्कार की बुद्धि तो उसको ठीक ही बात का ज्ञान करा रही है। परन्तु वह अपने काल के संस्कारों के अधीन ठीक बात कहकर भी काल के भ्रम से आच्छादित संस्कारों के वशीभूत भ्रममूलक बात कहने लगा है।

यह कहकर भी कि कोई है जो अन्नमय से प्राणमय में जाता है और प्राणमय से मनोमय में जाता है, वह अन्त में जाने वाले और इन कोषों को एक ही मानने लगा है।

यह मिथ्या संस्कारों का प्रभाव ही प्रतीत होता है।



मन्त्राणां वर्णनिक्रमणिका

मन्त्र	वल्ली	अनु०	मन्त्र	पृ०
अथाधिज्यौ तिषम्	१	३	२	१५
अथाधिविद्यम्	१	३	३	१७
अथाध्यात्मम्	१	३	५	१८
अथाधिप्रजम्	१	३	४	१७
अन्नं न निन्द्यात्	३	७	१	७४
अन्नं न परिचक्षीत	३	८	१	७६
अन्नं बहु कुर्वीत	३	९	१	७७
अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्	३	२	१	६६
अन्ताद्वै प्रजाः प्रजायन्ते	२	२	१	४२
असद्वा इदमग्र आसीत्	२	७	१	५३
असन्नेव स भवति	२	६	१	५०
अहं वृक्षस्य रेखिवा	१	१०	१	३३
अहमन्नमहमन्नम्	३	१०	७	८१
आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्	३	६	१	७२
आहवन्ती वितन्वाना	१	४	२	२०
ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च	१	९	१	३१
आमायन्तु ब्रह्मचारिणः	१	४	३	२०
ओमिति ब्रह्म	१	८	१	३०
ओ शं नो मित्रः	१	१	१	९
तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत	३	१०	४	७९
तन्नम इत्युपासीत	३	१०	५	८०
ता वा एताश्च	१	५	५	२३
न कंचन वसतो	३	१०	१	७८
नो इतराणि	१	११	३	३५
पृथिव्यन्तरिक्षम्	१	७	१	२९
प्राणं देवा अनु प्राणन्ति	२	३	१	४३

तैत्तिरीयोपनिषद्

१०८

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्	३	३	१	६८
ब्रह्मविदाप्नोति परम्	२	१	१	३६
भीषास्माद्वातः भवते	२	८	१	५५
भूर्भुवः सुवरिति	१	५	१	२१
भूरिति वा अग्निः	१	५	२	२३
भूरिति वा ऋचः	१	५	३	२३
भूरिति वै प्राणः	१	५	४	२३
भृगुर्वे वारुणिः	३	१	१	६४
मनो ब्रह्मेति व्यजानात्	३	४	१	६६
मह इत्यादित्यः	१	५	२	
भातृदेवो भव	१	११	२	३४
य एवं वेद	३	१०	२	७६
यतो वाचो निवर्तन्ते	२	६	१	५८
यतो वाचो निवर्तन्ते	२	४	१	४५
यथापः प्रवता यन्ति	१	४	५	२०
यश इति पशुषु	३	१०	३	७६
यशो जनेऽसानि स्वाहा	१	४	४	२०
यच्छन्दसामृषभो विश्वरूपः	१	४	१	१६
ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः	१	११	४	३५
वायुः संधानम्	१	३	२	
विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्	३	५	१	७१
विज्ञानं यज्ञं तनुते	२	५	१	४८
वेदमनूच्याचार्यो	१	११	१	३४
शं नो मित्रः	१	१२	१	३५
शिक्षा व्याख्यास्यामः	१	२	१	१०
श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य	२	८	३	५६
श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य	२	८	४	५६
स एको मनुयगन्धर्वाणाम्	२	८	२	५५
स य एवंविद्	३	१०	७	८०
स य एषोऽन्तर्हं दये	१	६	१	२६
स यश्चायं पुरुषे	२	८	५	५७
सह नौ यशः	१	३	१	१३
सह ना ववतु	२			
सुवरित्यादि		शान्ति पाठ		३६
				२६

इतिहास एवं ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित प्रकाशन

तैजपाल सिंह धामा की रचनाएं

गुरु गोविन्द सिंह
महारानी दुर्गावती
रानी अवन्तीबाई एवं 1857 की क्रांति
शेरे पंजाब महाराजा रणजीत सिंह
हमारी विरासत अर्थात् दिव्य भारत का गौरवशाली इतिहास
मनुर्भव अर्थात् विजयी विश्व हिन्दुत्व हमारा
अजेय अग्नि अर्थात् महारानी कर्मदेवी की शौर्यगाथा
अग्नि की लपटें अर्थात् महारानी पदमिनी की वलीदान गाथा
पृथ्वीराज चौहान एक पराजित विजेता
अखण्ड आर्यवर्त अर्थात् चन्द्रगुप्त चाणक्य कथा
पंक से पंकज अर्थात् महर्षि वाल्मिकी कथामृत
नल नील अभियान "श्री राम सेतु निर्माण"
गौ का गोरव गौय का विश्वकोप

वीर सावरकर साहित्य

हिन्दुत्व के पंच प्राण
हिन्दुत्व
क्रान्ति के नक्षत्र
मोपला मोपला विद्रोह कथा
गोमांतक पुर्तगालियों द्वारा गोमांतक (गोवा) भूमि पर जघन्य अत्याचार की कथा
प्रतिशोध मरहटों द्वारा पानीपत पराजय के प्रतिशोध पर आधारित
अमर सेनानी सावरकर शिवकुमार गोयल
महामना सावरकर हरि वावू देसाई

बलराज मधोक की रचनाएं

पाकिस्तान का आदि और अंत
कश्मीर जीत में हार
कश्मीर जीत या हार
जिन्दगी का सफर लददाख से दिल्ली
जिन्दगी का सफर स्वतन्त्र भारत की राजनीति का संक्रमण काल
जिन्दगी का सफर दीनदयाल उपाध्याय की हत्या से इन्दिरा की हत्या तक
पंजाब समस्या और समाधान
भारत और संसार

www.hindisahityasadan.com

2 वी डी चैम्बरस, 10/54 डी वी गुप्ता रोड, करोल बाग पुलिस स्टेशन के पास, नई दिल्ली-05
E-mail : hindisahityasadan@gmail.com Tel : 23553624, 23551344, 09213527666

श्री गुरुदत्त की इतिहास पर रचनाएं

भारतवर्ष का संक्षिप्त इतिहास
इतिहास में भारतीय परम्पराएं

श्री पी एन ओक की खोजपूर्ण रचनाएं

भारत का द्वितीय संग्राम “आज़ाद हिन्द फौज की कहानी”
भारतीय इतिहास की भयंकर भूलें
क्या भारत का इतिहास भारत के शत्रुओं द्वारा लिखा गया है ?
विश्व इतिहास के विलुप्त अध्याय
ताजमहल मन्दिर भवन है
ताजमहल तेजोमहालय शिव मन्दिर है
भारत में मुस्लिम सुल्तान भाग (2 भाग)
आगरा का लाल किला हिन्दू भवन है
फतहपुर सीकरी हिन्दू नगर है
लखनऊ के इमामवाड़े हिन्दू भवन हैं
दिल्ली का लाल किला लाल कोट है
वैदिक विश्व राष्ट्र का इतिहास (4 भाग)
कौन कहता है अकबर महान था ?
हास्यास्पद अंग्रेज़ी भाषा
क्रिश्चियनिटी कृष्ण नीति है
आरोग्य सौन्दर्य तथा दीर्घायु (व्यायाम व मूर्ध्न्य नमस्कार)
ज्योतिष स्वयं शिक्षक - फल ज्योतिष
Lucknow's Imambaras are Hindu Building
Christianity is Chrisn-Nity
The Taj Mahal Is A Temple Palace
World Vedic Heritage 2 vols.
Some Missing Chapters Of World History
Some Blunders of Indian Historical Research
Who Says Akbar Was Great ?
Agra Red Fort is a Hindu Building

www.hindisahityasadan.com

2 वी डी चैम्बर्स, 10/54 डी वी गुप्ता रोड, करोल बाग पुलिस स्टेशन के पास, नई दिल्ली-05
E-mail : hindisahityasadan@gmail.com Tel : 23553624, 23551344, 09213527666

श्री गुरुदत्त के अर्थाधिक चर्चित उपन्यास

स्वाधीनता के पथ पर	(स्वाधीनता आन्दोलन 1930 से 35 का काल)
पथिक	(स्वाधीनता आन्दोलन 1935 से 40 का काल)
स्वराज्यदान	(स्वाधीनता आन्दोलन 1940 से 46 का काल)
विश्वामघात	(स्वाधीनता आन्दोलन 1946 से 47 का काल)
देश की हत्या	(स्वाधीनता आन्दोलन 1947 से 48 का काल)
दासता के नए रूप	(1948 से 49 का काल)
सदावत्सले मातृभूमे	(1949-.... का काल)

श्री गुरुदत्त की समाजिक रचनाएं

अमानत	प्रारब्ध और पुरुषार्थ
अनदेखे बन्धन	प्रेमसी
आवरण	बन्धन शादी का
अन्तरिक्ष में	भगवान भरोसे
आकाश पाताल	भाग्य का सम्बल
इवलीस	भूल
कलः	भूत और भविष्य
घर की बात	ममता
आशा निराशा	मायाजाल
अपने पराए	मैं न मानूँ
कामना	यह संसार
गुंठन	यात्रा का अंत
चंचरीक	लालसा
जिन्दगी	विकार
जीवन ज्वार	विलोम गति
न्यायाधिकरण	विकृत छाया
नए विचार नई बातें	स्वार्थ
नगर परिमोहन	सब एक रंग
नारितक	सभ्यता की ओर
पंकज	स्नेह का मूल्य
परिमल	संस्कार
परिवर्तन	सफलता के चरण
पड़ोसी	सर्वमंगला
प्रवंचना	साहित्यकार
प्रतिशोध	सुमति

www.hindisahityasadan.com

2 वी डी चैम्बरस, 10/54 डी वी गुप्ता रोड, कगेल बाग पुलिस स्टेशन के पास, नई दिल्ली-05

E-mail: indiabooks@rediffmail.com Tel : 23553624, 23551344, 09213527666

इतिहास एवं ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित प्रकाशन

तेजपाल सिंह धामा की रचनाएं

गुरु गोबिन्द सिंह

महारानी दुर्गावती

रानी अवन्तीबाई एवं 1857 की क्रांति

शेरे पंजाब महाराजा रणजीत सिंह

हमारी विरासत

मनुर्भव

अजेय अग्नि

अग्नि की लपटें

पृथ्वीराज चौहान एक पराजित विजेता

अखण्ड आर्यवर्त

पंक से पंकज

नल नील अभियान "श्री राम सेतु निर्माण"

गौ का गोरव

अर्थात् दिव्य भारत का गौरवशाली इतिहास

अर्थात् विजयी विश्व हिन्दुत्व हमारा

अर्थात् महारानी कर्मदेवी की शौर्यगाथा

अर्थात् महारानी पद्मिनी की वलीदान गाथा

अर्थात् चन्द्रगुप्त चाणक्य कथा

अर्थात् महर्षि वाल्मीकी कथामृत

गोंय का विश्वकोष

वीर सावरकर साहित्य

हिन्दुत्व के पंच प्राण

हिन्दुत्व

क्रान्ति के नक्षत्र

मोपला

गोमांतक

पुर्तगालियों द्वारा गोमांतक (गोवा) भूमि पर जघन्य अत्याचार की कथा

प्रतिशोध मरहटों द्वारा पानीपत पराजय के प्रतिशोध पर आधारित

अमर सेनानी सावरकर

महामना सावरकर

मोपला विद्रोह कथा

भूमि पर जघन्य अत्याचार की कथा

प्रतिशोध मरहटों द्वारा पानीपत पराजय के प्रतिशोध पर आधारित

शिवकुमार गोयल

हरि वावू देसाई

बलराज मधोक की रचनाएं

पाकिस्तान का आदि और अंत

कश्मीर जीत में हार

कश्मीर जीत या हार

जिन्दगी का सफर लद्दाख से दिल्ली

जिन्दगी का सफर स्वतन्त्र भारत की राजनीति का संक्रमण काल

जिन्दगी का सफर दीनदयाल उपाध्याय की हत्या से इन्दिरा की हत्या तक

पंजाब समस्या और समाधान

भारत और संसार

081

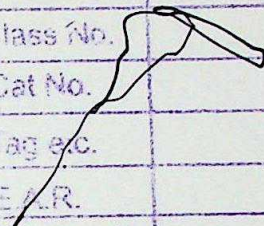


167912

www.hindisahityasadan.com

2 वी डी चैम्बरस, 10/54 डी वी गुप्ता रोड, करोल बाग पुलिस स्टेशन के पास, नई दिल्ली-05

E-mail : hindisahityasadan@gmail.com Tel.: 23553624, 23551344, 09213527666

GURUKUL KANGRI LIBRARY		
Access No.	Signature	Date
Class No.		
Cat No.		
Tag etc.		
E.A.R.		
Recomm. by		
Date Ent. by		
Checked		

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
वर्ग संख्या..... **R 089.9143** आगत संख्या..... **167912**
GR-5

पुस्तक विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित
30वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए।
अन्यथा 50 पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब शुल्क लगेगा।

www.hindisahityasadan.com

2 बी डी चैम्बर, 10/54 डी बी गुप्ता गेड, करोल बाग पुलिस स्टेशन के पास, नई दिल्ली-05
E-mail : hindisahityasadan@gmail.com Tel. : 23553624, 23551344, 09213527666

GURUKUL KANGRI LIBRARY		
Access No.	Page No.	Date
Class No.		
Cat No.		
Tag e.c.		
E.A.R.		
Recomm. by.		
Date Ent. by		
Checked		



गुरुदत्त

शिक्षा: एम. एस. सी.

8-12-1894 से 8-4-1989

लेखक की वेद, उपनिषद्, दर्शन एवं वैदिक विज्ञान पर प्रमुख रचनाएं



हिन्दी साहित्य सदन

www.hindisahityasadan.com

2 बी.डी. चौखम्ब, 10/54 देश बंधु गुप्ता रोड,

करोल बाग, नई दिल्ली-110 005, फोन : 23553624, 23551344

ई-मेल : indiabooks@rediffmail.com, hindisahityasadan@gmail.com